Chap-1

प्रथम अध्याय

दिनकर की भारतीय संस्कृति विषयक अवधारणा

संस्कृति का स्वरूप :

दिनकर जी की भारतीय संस्कृति विषयक अवधारणा पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति से सम्बंधित सामान्य मान्यताओं का आकलन कर लें, जिससे उनकी एतद्विषयक उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन किया जा सके। यद्यपि 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी मिलता है।[1] तथापि सम्प्रति इस शब्द को अंग्रेजी शब्द कल्वर(culture) के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। अत: संस्कृति शब्द के व्युत्पत्तिमूलक एवं व्यापक अर्थ को समझने से पूर्व(culture) शब्द के अर्थ को समझ लेना सर्वथा समीचीन होगा।

दर्शन विश्व कोश में culture को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है, सभ्यता शब्द(civilization) नागरिक(citizen) की यथार्थ सामाजिक अवस्था से व्युत्पन्न हुआ था। संस्कृति (culture) शब्द अपने सामाजिक, बौद्धिक और कलात्मक अर्थों में एक रूपकीय प्रणाली का द्योतक है। सभ्यता के सम्बंध में बर्बरता (एक अन्य सामाजिक अवस्था) के साथ प्रत्यक्ष: सामान्य वैषम्य का भाव बताया गया है। बर्बरता मूलत: अन्य जातीय समुदाय के जीवन के वर्णन का निदर्शक रही है, किन्तु 'कल्वर' के सम्बंध में इस तरह का सामान्य वैषम्य नहीं था।

डा० प्रसन्नकुमार आचार्य के अनुसार 'कल्वर' परिष्कार या सुधार की क्रिया तथा परिष्कृत-संस्कृत होने की दशा की निदर्शक है। भूमि के परिष्कार-सुधार में अनेक प्रक्रियाओं से अवांछनीय पौधे, पत्थर के टुकड़े आदि धरती से निकाल दिये जाते हैं, मिट्टी को पानी व खाद दिया जाता है, जिससे वह उस स्थिति में पहुँच जाय, जिसमें बीज के समुचित वपन से अभिलषित शस्य, पौधे, फूल आदि पूरी

क्षमता के साथ विकास पा सकें । परिष्कृत होने की यह दशा संस्कार में परिणत होती है । इस प्रकार कल्वर (मूलत:) स्वाभाविक बौद्धिक शक्ति तथा उसके पूर्णतम विकास-शक्ति की क्षमताओं को अपने लक्ष्य में रखती हैं । यह वैयक्तिक एवं सामाजिक दायित्वों, अधिबन्धों आदि में स्वत: प्रकाशित होती हैं । विशेषकर भावों और विचारों से जुड़ी हुई होने के कारण यह पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन से सम्बद्ध सामुदायिक अथवा वैयक्तिक विकास की क्रियाओं की ओर ले जाती है ।[2] इससे प्रकट है कि व्यक्ति में मानवीय गुणों के समुचित विकास के लिए दोष निवारण एवं नयी विशेषताओं के विकास के सूचक दोनों प्रकार के संस्कारों का होना आवश्यक है ।[3] और यह संस्कार-समष्टि संस्कृति है ।

कल्वर(culture) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा की धातु (colure) कोलर से निष्पन्न कुल्टुरा(cultura) शब्द से हुई है जो संक्षेप में पूजा करना तथा कृषि सम्बंधी कार्य का बोधक है । दूसरे अर्थ के विकास को हम ऊपर रेखांकित कर चुके हैं । पहले अर्थ `पूजा` करना के सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि जिस समय यह अर्थ प्रचलित हुआ था, उस समय तक मनुष्य समाज कृषक जीवन अपना चुका था, किन्तु सांस्कृतिक विकास क्रम की इस पहली सीढ़ी में कृषकों ने प्राकृतिक शक्तियों से त्राण पाने के लिए उनकी पूजा आरंभ कर दी थी तथा यह पूजा मानव मन को रुचने वाली प्रियदर्शी क्रियाओं पर आधारित थी।[4] इसी क्रम में मनुष्य का प्रकृति के साथ-साथ, मनुष्य का मनुष्य के साथ जो सम्बंध विकसित हुआ, वह धीरे-धीरे उसके मन में उत्पन्न भावनाओं एवं बौद्धिक विचार के फलस्वरूप नीति, शास्त्र, कला, सौन्दर्य-बोध तथा धर्म आदि का विकास सम्पन्न हुआ । अत: पूजा करना अर्थ भी `कल्वर` की समस्त विशेषताओं को ~~विकास से मानव संस्कृति~~ विकास क्रम में द्योतित करता है । `सम्प्रति कल्वर शब्द` जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है वह आरंभिक दोनों अर्थों से भिन्न एवं व्यापक है ।

'कल्चर' (संस्कृति) की अवधारणा का महत्त्वपूर्ण विकास अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण एवं उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सम्पन्न हुआ। जो चार रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है[५] -

१- कल्चर(संस्कृति) मानवीय पूर्णता के विचार निकटता से सम्बद्ध मस्तिष्क की सर्व-साधारण दशा अथवा प्रवृत्ति ।

२- किसी समाज/समुदाय विशेष के बौद्धिक एवं नैतिक विकास की सर्व-साधारण दशा ।

३- बौद्धिक कृति एवं कलाओं का सर्व-साधारण निकाय ।

४- किसी समुदाय/समाज के भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन का सम्पूर्ण रूप ।

'कल्चर' में मूलत: दो प्रकार के उपादान आ जाते हैं - स्थूल और सूक्ष्म । स्थूल में वे सभी उपादान अन्तर्भूत हैं, जिन्हें भौतिक कहा जा सकता है और सूक्ष्म में मस्तिष्क की सर्व-साधारण प्रवृत्ति तथा अन्तर्वृत्तियों का स्वरूप । फलत: समस्त बौद्धिक कृतियाँ, कलाएँ, आचार-विचार, भाषा, आस्था-मान्यताएँ आदि सभी 'कल्चर' के उपादान सिद्ध हो जाते हैं । नित्य विकास की दशा में संस्कृति एक अविच्छिन्न प्रवाह है । मानव के क्रिया-कलाप जो परंपरागत सातत्य के परिणाम हैं, सदा विकासशील होते रहते हैं । क्योंकि संस्कृति उत्तराधिकार से प्राप्त उक्त निधि को परिष्कृत करती और वैशिष्ट्य प्रदान करती है । एडविन सेलिगमैन के अनुसार- संस्कृति में जो गतिशीलता है, वह प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति की है, जिसमें संस्कृति को लक्षित करने वाले गतिशील तत्व परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया करके समय-समय पर होनेवाले नये परिवर्तनों तथा संयोगों से रूपायित होते हैं ।[६]

संस्कृति मानव-समाज की ऐसी जीवन पद्धति है, जिसमें समाज के व्यक्ति

समभागी होते, उसे सीखते तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक क्रमश: प्रेषित करते जाते हैं ।[7] डा० गुप्त ने संस्कृति को इस प्रकार विश्लेषित किया है । 'संस्कृति मानव के संपूर्ण सामाजिक तथा विकास के प्रयासों, औद्योगिक विकासों के कौशल, कला, विज्ञान, नियम, अधिनियम, राजतंत्र, नैतिक-भावना भौतिक तथा अभौतिक जीवन, रीति-रिवाज तथा उनकी परम्पराओं आदि सभी से समाहित होने के कारण मानव जाति के समस्त-चेतनामूलक जीवन से सम्बंधित हैं।[8] सामूहिक जीवन के कारण मानव में परस्पर प्रेम, सहानुभूति, सहयोग,सुन्दर वस्तुओं को परखने तथा रचने की योग्यता तथा ज्ञानार्जन की उच्च प्रवृत्तियों का उदय हुआ जो सांस्कृतिक जीवन के विकास -क्रम के प्रथम सोपान में आती हैं । डा० मदनगोपाल गुप्त ने इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि कृषि विद्या के नियमों के आधार पर बह जिस प्रकार पेड़-पौधों को सुविकसित करके अच्छी खेती तैयार की जाती है । ठीक उसी प्रकार मनुष्यों में भी मानवता को पल्लवित करने के लिए जो पद्धति काम में लायी जाती है । उसे संस्कृति कहा जा सकता है ।[9]

संस्कृति के स्वरूप विकास को रेखांकित करते हुए डा० वाचस्पति गैरोला ने कहा है कि [10] अपने आर्थिक तथा सामाजिक विकास-क्रम में मनुष्य ने सुरुचि, सद्-भाव, आदर्श, अनुराग और सौन्दर्य की अभिरुचि का निरन्तर परिष्कार तथा प्रसार किया । उसकी वही परिष्कृत अभिरुचि संस्कृति की जननी बनी । डा० गैरोला की अवधारणा डा० गुप्त के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से साम्य रखती है । संस्कृति और सभ्यता के स्वरूप को विश्लेषित करते हुए उन्होंने कहा कि संस्कृति का आधार मुख्यत: आचारों से तथा सभ्यता का मुख्य आधार विचारों से है । आचारों से संस्कृति का तथा विचारों से सभ्यता का निर्माण हुआ ।[11] लेखिका का नम्र अनुरोध है कि आचार और विचार संस्कृति व सभ्यता दोनों में होते हैं । क्योंकि विचार प्राय: आचार के निर्णायक और नियामक होते हैं ।

इस दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि संस्कृति में अन्तश्चेतना की सूक्ष्म परिष्कृत स्थिति प्रधान है। जबकि सभ्यता में उस आचरण के महत्त्व की प्रतिष्ठा है जो मनुष्य को सामाजिक बनाती है अथवा जो सामूहिक जीवन द्वारा स्वीकृत, मान्य या वांछनीय हैं।

संस्कृति और सभ्यता :

'कल्चर' (संस्कृति) की अवधारणा की स्पष्टता के लिए सभ्यता की अवधारणा को यहां समझ लेना उपयोगी होगा। सभ्यता(civilization) व्युत्पत्ति के आधार पर सभ्य(citizen) अथवा नगर-निवासी से सम्बद्ध है। जो ग्राम-निवासी से विपरीत पड़ जाता है। नगर-निवासी गांवों में छोटे-छोटे समुदायों में रहने वालों की अपेक्षा सामान्यत: शिक्षित, परिष्कृत और संगठित होते हैं। आरम्भ में ग्राम और नगर की विशिष्टता का जो आधार था, बाद में विस्तृत क्षेत्र में आ गया। वे लोग जो विशेष रूप से उन्नत, बौद्धिक संस्कार सम्पन्न एवं आरामदेह भौतिक अस्तित्व के थे। उनकी तुलना में अपने आपको सभ्यतर मानने लगे। जो उपर्युक्त सुविधाओं से वंचित थे। इस प्रकार सभ्यता उच्च बौद्धिक संस्कार सम्पन्न, समुन्नत नैतिक धारणा तथा भौतिक सुख-समृद्धि की परिचायक है। इसमें भौतिक विकास, व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति, सामाजिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक प्रगति के तत्त्व के अन्तर्भूत है। इस प्रकार यह मानव को प्रसन्नतर, योग्यतर तथा समृद्ध तर बनाने का लक्ष्य लेकर चलती है। इसको अन्य जातियों पर विजय, प्रकृति-विजय, देश-काल की दूरी के विलय, नवीन चीजों के उपयोग तथा इसी प्रकार की अन्य प्रगतियों में परिलक्षित किया जा सकता है। इसका परिणाम यह होता है कि मानव अथवा मानव समुदाय का संगठित प्रयत्न से समुन्नयन होता है। इस प्रकार प्राचीन यूनानी तथा रूमी अन्य जातियों को बर्बर अथवा असभ्य मानने लगे थे। इसी प्रकार भारत के आर्य

विजेताओं ने मूल निवासियों को दस्यु कहकर अपने से पृथक् कर दिया । आधुनिक यूरोपीय और अमेरिका निवासी एशिया तथा अन्य महाद्वीपों के निवासियों को यदि असभ्य नहीं समझते तो अपने से पिछड़ा हुआ अवश्य मानते हैं । वर्तमान युग की यूरोपिय शक्तियों ने केवल इसी आधार पर अन्य जातियों को सभ्य बनाने के उद्देश्य से ~~उपनिवेशी~~ उपनिवेशीकरण को उचित ठहराया ।

इस प्रकार संस्कृति मानसिक और आध्यात्मिक विकास की दशाओं को संदर्भित करती है । जबकि सभ्यता भौतिक विकास की दशाओं को, तथापि दोनों के कार्य क्षेत्र प्रायः उभय निष्ठ हैं । परिवार, समाज, धर्म, राजनीति आदि के क्षेत्र ~~प्रायः उभय निष्ठ हैं।~~ में जीवन की दशाएं ही दोनों के कार्यक्षेत्र में आती हैं।[12] इस तथ्य को भिन्न शब्दावली में प्रस्तुत करते हुए आचार्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सभ्यता के बाह्य-प्रयोजन को सहज सभ्य करने का विधान तथा संस्कृति को अतिरिक्त आनन्द की अनुभूति[13] माना है ।

सभ्यता शब्द सभ्य से व्युत्पन्न हुआ है और सभ्य का सम्बंध सभा से है । सभा में व्यवहार की साधुता, सभा या समाज में रहने की योग्यता व सामाजिकता से है ।[14] सभा में बैठने वाले की व्यवहार कुशलता को सभ्यता कह सकते हैं । सभ्य का एक अर्थ सदस्य भी होता है । किसी समूह, समाज या सभा का सदस्य होना सभ्यता है जो एक सामाजिक गुण है । यह सामाजिक गुण समाज में रहने से आयत्त होता है और यह बहुत कुछ बाहरी होता है आंतरिक नहीं । समाज में व्यक्ति का आचरण तथा व्यक्ति का व्यवहार कैसा होना चाहिए, यह विशेष

रूप से विचारणीय होता है और यही सभ्यता का द्योतक है। सभ्यता समाज में रहकर ही ग्रहण की जाती है, किन्तु संस्कृति सामाजिक और वैयक्तिक दोनों है। संस्कृति अत्यन्त व्यापक है और वह समग्र मानव-चेतना एवं क्रिया-कलाप को अपने अन्दर समाहित कर लेती है। मानव की समस्त भौतिक प्रगति सभ्यता के अन्तर्गत तथा भौतिक, मानसिक बौद्धिक तथा आध्यात्मिक प्रगति संस्कृति के अंतर्गत आती है। संस्कृति में सभ्यता के सभी उपादान अन्तर्भूत हो जाते हैं। संस्कृति इस दृष्टि से बहुत व्यापक है। सभ्यता के समस्त उपादान बाह्य होते हैं उनका अनुकरण किया जा सकता है। किन्तु संस्कृति अन्तर्जगत से सम्बंधित है अतः वह स्वतः ~~अनुकरणीय~~ अनुकरणीय नहीं, वरन् संस्कार जन्य होती है।

यदि संस्कृति की व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'सम' उपसर्ग-पूर्वक 'कृ' धातु से संस्कृति पद निष्पन्न होता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर संस्कृति पद उस अर्थ का द्योतक है। जो समस्त मानवता को विशेषता प्रदान करता है।[१५] मानवता को विशिष्ट बनाने वाले उसके आदर्श तथा उसकी परंपराएँ तथा मान्यताएँ हैं। जिन विद्वानों ने समस्त सीखे हुए व्यवहार को संस्कृति की संज्ञा दी है, उनका आशय भी यही प्रतीत होता है कि मनुष्य ने परंपरा द्वारा आचार-विचार और रहन-सहन की जिन मान्यताओं को ग्रहण तथा प्रशस्त किया। उन्हीं ने उसे सामान्य से विशिष्ट बनाया और इसीलिए वे संस्कृति के मूल उपादान हैं।[१६] संस्कृति विशिष्टता प्रदान करने के कारण आचार-विचार मूलक सिद्ध होती है। साहित्य के कला आदि वांगमय की विभिन्न धाराएँ उसकी प्रेरणा या अन्तश्चेतना के प्रतिफल हैं। इस दृष्टि से समस्त ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल संस्कृति के व्यापक स्वरूप में समाहित हो जाते हैं।

दिनकर की संस्कृति-विषयक व्याख्या :

संस्कृति से सम्बंधित संक्षिप्त व्याख्या करने के पश्चात हम अपने मूल विषय

की ओर आते हैं। हमारा प्रतिपाद्य दिनकर की संस्कृति व भारतीय संस्कृति के प्रति अवधारणा है। दिनकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' के परिशिष्ट'क' में 'संस्कृति क्या है' इस पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। यही लेख उनके 'रेती के फूल' नामक निबंध संग्रह में भी है। दोनों लेखों में समानता है। 'संस्कृति के चार अध्याय' के प्रथम संस्करण में ही यह प्रकाशित है, किन्तु बाद के संस्कारणों में यह नहीं मिलता। संस्कृति-विषयक अपनी अवधारणा के प्रस्तुतीकरण में दिनकर जी ने दो मुख्य बातें प्रकाशित की हैं - एक तो वे उसकी समुचित परिभाषा देने में स्वयं को असमर्थ[१७] स्वीकार करते हुए उसे समस्त जीवन में व्याप्त ऐसी जीवन पद्धति के रूप में मानते हैं जिसकी रचना और विकास में 'सदियों के अनुभवों का हाथ है।'[१८] द्वितीयत: इसका आशय स्पष्ट करने के लिए उन्होंने संस्कृति और सभ्यता का तुलनात्मक विश्लेषण करके इस तथ्य को प्रकाशित किया है कि संस्कृति सूक्ष्म रूप में सभ्यता के अंतर्गत उसी प्रकार व्याप्त होती है जिस प्रकार दूध में मक्खन या फूलों में सुगन्ध।[१९] इस स्पष्टीकरण में उन्होंने संस्कृति को सभ्यता की तुलना में अधिक महनीय, चिरन्तन एवं स्थायी घोषित किया है।[२०] यह निश्चय ही कवि-सुलभ अवधारणा कही जा सकती है।

संस्कृति तथा सभ्यता-विषयक पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवेचन के प्रकाश में यदि हम राष्ट्र कवि दिनकर के उपर्युक्त मंतव्य पर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनकी अवधारणा उनकी भ्रांति ही है। उनके प्रस्तुतीकरण की मुख्य विशेषता यह है कि उन्होंने दोनों के पारस्परिक सम्बंधों का सम्यक् उद्घाटन किया है। इसके साथ ही वे दोनों का आरम्भ प्रारम्भ से ही एक साथ मानते हैं। सभ्यता और संस्कृति के अन्तर के स्पष्टीकरण में दिनकर जी का उद्देश्य संस्कृति के वैशिष्ट्य को प्रकाशित करना रहा है। उनके अनुसार एक सभ्य व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं हो

सकता है । उन्होंने भारतीय ऋषि-मुनियों का उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया है कि उनके रहन-सहन को आधुनिक यूरोपीय देश सभ्य नहीं कहेंगे । किन्तु वे ही असलियत में भारतीय संस्कृति के निर्माण कर्त्ता थे । वास्तव में देखा जाय तो सभ्यता के तथ्यों को मानव जितनी जल्दी अपना सकता है । संस्कृति के तत्वों को अपनाना मुश्किल है, क्योंकि संस्कृति कई सौ सालों के निरन्तर विकास से उत्पन्न होती है । डा० धीरेन्द्र नाथ राय का यह कथन दिनकर के उपर्युक्त दृष्टिकोण से साम्य रखता है कि सभ्यता समाजीकरण की समानार्थक होने के कारण वह व्यक्ति को चतुर-कुशल, स्फूर्तिसम्पन्न एवं वैभवशाली बना सकती है । परन्तु सच्चे अर्थों में उसे संस्कृत नहीं कर सकती,[२१] क्योंकि संस्कृति धीरे- धीरे विकसित होनेवाली एक कृत्रिम, किन्तु अनिवार्य स्थिति है जो कि मूलत: नैसर्गिक न होकर भी निरन्तर विकसित होती हुई परिस्थितियों के प्रति प्रकृत या स्वाभाविक हो जाती है ।[२२] संस्कृति असल में, शरीर का नहीं आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों से हमारा सम्बन्ध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है ।[२३]

भारतीय संस्कृति विषयक दिनकर की अवधारणा :

किसी भी राष्ट्र के जीवन में कुछ विशिष्टताएं होती हैं जो उसे अन्यों की समकक्षता में भिन्न करती हैं । उसके निवासियों की, वस्तुओं के प्रति निजी रुचि एवं धारणा होती है । उसके सौन्दर्य की माप की तुला भी भिन्न होती है एवं वह एक दृष्टिकोण से जीवन भर दृष्टि निक्षेप करता है । इसके मूल में उस विशिष्ट

राष्ट्र के जातिगत संस्कार होते हैं। उसकी परंपरा द्वारा विकसित तथा निरन्तर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर उस देश की संस्कृति प्रवाहमान होती है। इसी भेदक दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न देशों की अपनी भिन्न-भिन्न संस्कृति होती है। भारतीय संस्कृति अपनी अनन्यतम विशेषताओं के कारण विश्व की संस्कृतियों के समकक्ष अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है। भारत एक ऐसा देश है जहां, जलवायु, प्राकृतिक बनावट, रहन-सहन व भाषाएं भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु बाह्य रूप में भिन्नता होते हुए भी सभी भारतीयों की आत्मा एक है। आत्मा से ही सात्विक विचारों की अभिव्यक्ति होती है। यही अभिव्यक्ति हमारी सांस्कृतिक रुचि है। सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से संपूर्ण भारत एक ही तरह के विचारों से जाना जा सकता है। अतः इस देश की सांस्कृतिक विशेषताएं समान हैं।

भारतीय संस्कृति अपने मूलरूप में इतनी तेजस्विनी थी कि उसने कालान्तर में कितनी ही संस्कृतियों को अपने में समाहित कर लिया। दिनकर का कहना है संस्कृति आदान-प्रदान से ही अपनी विशिष्टता को बनाये रख सकती है। उन्होंने इसे इस तरह समझाया है "जिस जलाशय के पानी लाने वाले दरवाजे बराबर खुले रहते हैं, उसकी संस्कृति कभी नहीं सूखती। उसमें सदा ही स्वच्छ जल लहराता रहता है और कमल के फूल खिलते रहते हैं। कूप मण्डूकता और दुनिया से अलग अलग संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से अपने देश की संस्कृति अधिक शक्तिशालिनी हो गयी है। उनके अनुसार सांस्कृतिक दृष्टि से वह देश और वह जाति अधिक शक्तिशालिनी और महान समझी जानी चाहिए, जिसने विश्व के अधिक से अधिक देशों, अधिक से अधिक जातियों की संस्कृतियों को अपने भीतर जज्ब करके, उन्हें पचा करके बड़े से बड़े समन्वय को उत्पन्न किया है। भारत देश और भारतीय जाति इस दृष्टि से संसार में सबसे महान है क्योंकि यहां की सामासिक संस्कृति में

अधिक से अधिक जातियों की संस्कृतियाँ पची हुई हैं । भारतीय संस्कृति की इस सामासिकता को उन्होंने उसके ऐतिहासिक विश्लेषण द्वारा स्पष्ट किया है । 'संस्कृति के चार अध्याय' शीर्षक पुस्तक में भारत की सांस्कृतिक परम्परा की विशद व्याख्या करते हुए अपने विवेचन को चार काल-खण्डों में विभाजित किया है, जिन पर क्रमश: विस्तार से विचार किया जायेगा । लेखक का यह विभाजन स्वयं लेखक द्वारा दिये गये शीर्षकों के अनुसार इस प्रकार है -

१) भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव ।

२) प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह ।

३) हिन्दू संस्कृति और इस्लाम ।

४) भारतीय संस्कृति और यूरोप ।

विचारक श्री दिनकर के अनुसार भारतीय संस्कृति में चार बड़ी क्रान्तियाँ हुई हैं और हमारी संस्कृति का इतिहास उन्हीं चार क्रान्तियों का इतिहास है । पहली क्रांति तब हुई, जब आर्य भारतवर्ष में आये अथवा जब आर्येतर जातियों से भारतवर्ष में उनका सम्पर्क हुआ । आर्यों ने आर्येतर जातियों से मिलकर जिस समाज की रचना की, वही आर्यों अथवा हिन्दुओं का बुनियादी समाज हुआ । इस प्रकार आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों के मिलन से जो संस्कृति उत्पन्न हुई वही भारत की बुनियादी संस्कृति बनी । उनके अनुसार दूसरी क्रांति तब हुई, जब महावीर या गौतम बुद्ध ने उक्त स्थापित धर्म या संस्कृति के प्रति विद्रोह किया तथा उपनिषदों की चिंता धारा को खींचकर वे अपनी मनोवांछित दिशा की ओर ले गए । इस क्रांति ने भारतीय संस्कृति की अपूर्व सेवा की । हिन्दुत्व के साथ इस्लाम के सम्पर्क

को उन्होंने तीसरी क्रान्ति की संज्ञा दी है। तथा चौथी क्रान्ति यूरोप के आगमन के फलस्वरूप हुई। जिसने इस्लाम और हिन्दुत्व दोनों को नवीन चिंता-धारा दी।

उपर्युक्त क्रान्तियों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि यह संस्कृति आरम्भ से ही सामासिक रही है। उनका कहना है भारत के किसी भी भाग में जो हिन्दू बसते हैं, उनकी संस्कृति एक है, उनमें जो क्षेत्रीय विशेषताएं हैं, वे सामासिक संस्कृति की ही विशेषताएं हैं। उनकी यह स्थापना भी है कि हिन्दू-मुसलमान देखने में दो लगते हैं। किन्तु उनके बीच भी सांस्कृतिक एकता विद्यमान है। जो उनकी भिन्नता को कम करती है। यह बात निश्चित है कि हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियाँ एकाकार नहीं हुई हैं। दोनों प्रवहमान हैं। यत्र-तत्र परस्पर स्पर्श व प्रभावित भी करती हैं। किन्तु दोनों में वह समन्वय नहीं हो पाया है जो मुसलमानों से पूर्व आने वाली जातियों की संस्कृतियों में समन्वय सम्पन्न हुआ था। सम्भवत: इसी विशेषता के कारण वे इसे समन्वय-प्रधान संस्कृति न कहकर सामासिक संस्कृति कहते हैं। पुस्तक की भूमिका में पं० जवाहरलाल नेहरू ने इस तथ्य पर विचार करते हुए लिखा है कि-'भारतीय संस्कृति में समन्वयन तथा नए उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता थी।[२५]

दिनकर जी के उपर्युक्त निष्कर्षों के समुचित मूल्यांकन के लिए प्रत्येक काल-खण्ड पर स्वतंत्र रूप से विचार कर लेना यहां आवश्यक है, जिसे क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है।

१- भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव :

भारतीय जनता की रचना तथा हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव विषयक विवेचन

को लेखक ने तीन प्रकरणों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। प्रथम में भारतीय जनता की रचना तथा जन-विज्ञान और भाषा की कसौटी के माध्यम से ~~समस्त~~ जातीय सम्मिश्रण को प्रस्तुत किया गया है, द्वितीय में आर्य, द्रविड़ समस्याएं तथा तृतीय में आर्य और आर्येतर संस्कृतियों के समन्वय का उद्घाटन है। तृतीयतः प्रकरण में उक्त समन्वय को वैष्णव धर्म के उद्भव और विकास द्वारा भी परिलक्षित कराया गया है। दिनकर जी का मत है कि हिन्दू संस्कृति किसी एक जाति की संस्कृति नहीं है। नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, आर्य, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, मंगोल और मुस्लिम आक्रमण से पूर्व आने वाले तुर्क इन सभी जातियों के लोग कई झुण्डों में इस देश में आये और हिन्दू समाज में दाखिल होकर सब के सब उसके अंग हो गये।[२६] यह हिन्दू संस्कृति इन सभी जातियों के मिश्रण का परिणाम है। अपने इस मन्तव्य के सन्दर्भ में उन्होंने इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार के इस मत को भी प्रस्तुत किया है कि 'भारतवर्ष की जनता मुख्यत: आर्य और द्राविड़ नस्लों की बनी हुई है और उसमें थोड़ी सी छौंक शबर और किरात (मुण्ड और तिब्बत बर्मी) की है।[२७] अत: उनका स्पष्ट मत है कि रक्त, भाषा और संस्कृति सभी दृष्टियों से भारत की जनता अनेक मिश्रणों से युक्त है।[२८]

द्रविड़ और आर्य जाति की सांस्कृतिक एकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि जिन जातियों को आर्य और द्रविड़ नाम से अभिहित किया जाता है। उनके संस्कार एक ही हैं, जीवन के विषय में उनके दृष्टिकोण भी एक ही हैं। अंतर है तो केवल इतना कि आर्यों में गौर वर्ण के लोग कुछ अधिक हैं तथा द्रविड़लोग कुछ अधिक कृष्ण वर्ण के हैं वे द्राविड़ भाषाएं बोलते हैं और दक्षिण में रहते हैं। वस्तुत: आर्यों और द्रविडों का सांस्कृतिक मिश्रण इतनी सघनता से हुआ है कि उसके विलगाव का प्रयत्न कठिन है। उनका अनुमान है कि नीग्रो और आग्नेयों की बहुत सी बातें पहले द्रविड़ सभ्यता में आईं और पीछे उक्त

मिश्रण के फलस्वरूप आर्य सभ्यता में। इस सांस्कृतिक मिश्रण के साक्ष्य धार्मिक-आस्थाओं और पूजा-उपासना में प्राप्त होते हैं। दिनकर जी के अनुसार वे समाज की मातृ मूलक व्यवस्था के भी प्रवर्तक हुए और शैव, शाक्त धर्मतथा भक्तिवाद का भी उन्होंने विकास किया।[29] आज यह स्पष्ट हो चुका है कि द्रविड़ जाति भारत की सबसे प्राचीन सभ्यता की द्योतक है। भारत में हड़प्पा-मोहनजोदरो की खुदाई के आधार पर इसके प्रमाण मिलते हैं। वाचस्पति गैरोला का एतद्विषयक विवेचन रामधारी सिंह दिनकर की इन मान्यताओं के मेल में है। उनके अनुसार द्रविड़ों को लिंग-पूजा की विरासत प्रोटो-आस्ट्रेलायडों (Proto-Austrailydoids) से मिली थी तथा द्रविडों द्वारा स्थापित पशु-पूजा की परम्परा को आर्यों ने व्यापक रूप से अपनाया और गाय, गणेश, हनुमान, गरुड़ तथा नाग आदि के पूजन की परंपरा भारत में आज भी बनी हुई है। उसके मूल प्रवर्तक द्रविड़ ही थे।[30]

दिनकर ने यह मन्तव्य भी व्यक्त किया है कि भारत की प्राचीनतम सभ्यता सिन्धु-घाटी की सभ्यता थी। जिसके भीतर भारत की वेद-पूर्व संस्कृति के असंख्य उपकरण समाहित थे। आर्यों का संघर्ष इसी सभ्यता वालों से हुआ था और आर्य जब कश्मीर से नीचे उतर कर भारत में फैले, तब उन्होंने इसी वेद पूर्व सभ्यता को भारतीय सभ्यता का आधार बनाया।[31] सिन्धु वासियों ने अपनी धार्मिक निष्ठा को लिंग-पूजा, योनिपूजा, वृक्ष पूजा एवं पशु पूजा के रूप में प्रदर्शित किया है। खुदाइयों में जो सींग, स्तम्भ तथा स्वस्तिका के रेखांकन मिले हैं, वे भी उनके धार्मिक प्रतीक प्राप्त होते हैं। उनका साकार तथा निराकार उपासना-पूजा पर विश्वास था।[32] इस तथ्य के प्रकाश में यह प्रश्न उठता है कि क्या द्रविड़ और सिन्धु घाटी की सभ्यता के निवासी एक ही हैं? दिनकर का स्पष्ट मत है कि ये दोनों एक नहीं हैं।[33] सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के विवेचन[34] के प्रकाश में दिनकर जी की यह अवधारणा इतिहास सम्मत है। इस प्रसंग पर उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य

विद्वानों के मतों के आधार पर संतुलित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

जहां तक आर्यों का प्रश्न है, उन्होंने यह माना है कि आर्य भारत में बाहर से आये। किन्तु उनको भारत में आने में भी शताब्दियां लग गई होंगी। इसीलिए आर्यों ने भारत को कोई नया देश नहीं समझा। वेदों में आर्यों के बाहर से आने का कोई उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद के अनुसार आर्यों का देश सप्त-सैंधव था। इसी भू-भाग में सिन्धु सभ्यता के चिह्न मिले हैं, किन्तु सिन्धु-सभ्यता आर्यों की सभ्यता से भिन्न है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सिन्धु-सभ्यता में शिव की पूजा प्रचलित थी और यह पूजा आर्यों के यहां विलम्ब से गृहीत हुई।[३५]

दिनकर जी ने यह माना है कि आर्यों ने यहाँ आकर जिस संस्कृति का निर्माण किया वह भारत की संस्कृति बनी और इस संस्कृति में आरम्भ से ही आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का समन्वय हुआ।[३६] इसकी पुष्टि में उनका कहना है कि पौराणिक हिन्दू- धर्म निगम और आगम दोनों पर आधारित माना जाता है। निगम वैदिक विधान है और आगम प्राग्वैदिक, पुराणों की परंपरा वेदों की परंपरा से कम प्राचीन नहीं है। डा० मंगलदेव शास्त्री ने यह भी अनुमान लगाया है कि भारतीय संस्कृति में जो कई परस्पर विरोधी युग्म हैं। उनका भी यही कारण है कि यह संस्कृति आरंभ से ही सामासिक रही है।[३७] उदाहरण के लिए कर्म और सन्यास, प्रवृत्ति और निवृत्ति तथा स्वर्ग और नरक की कल्पनाएं। कर्म और प्रवृत्ति के सिद्धान्त वैदिक और सन्यास तथा निवृत्ति के सिद्धान्त प्राग्वैदिक मान्यताओं से पुष्ट माने जा सकते हैं। वस्तुत: प्राग्वैदिक संस्कृति ने वैदिक संस्कृति को चारों ओर से घेर रखा है। इस दृष्टि से देखा जाए तो सहज ही कहा जा

सकता है कि जैन और बौद्ध धर्मों का मूल आगमों में अधिक, वेदान्त में कम मानना चाहिए। यह दूसरी बात है कि गीता में भगवान श्री कृष्ण ने भागवतों की भक्ति, वेदान्त के ज्ञान और सांख्य के दर्शन को एकाकार कर अपनी समन्वय दृष्टि का परिचय दिया है। यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वेदवदे वेदों में नरक और मोक्ष का वर्णन नहीं के बराबर है।

ऋषि और मुनि का युग्म भी एक विरोध की ओर संकेत करता है। ऋषि मंत्रद्रष्टा और गृहस्थ होते थे। पर मुनि गृहस्थ नहीं होते थे - उनके साथ ज्ञान, तप, योग और वैराग्य की परम्पराओं का गहरा सम्बंध था। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है।[३८] वैदिक संहिताओं में ग्राम शब्द अनेक बार आया है पर नगर शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। वस्तुत: वैदिक सभ्यता ग्राम प्रधान थी और आर्यों ने नगर-निर्माण की कला बाद में सीखी। आर्यों के समाज में ग्राम-संस्कृति की प्रधानता होने के कारण ही जाति-प्रथा रूढ़ हो गयी।[३९] शिल्प और कला-कौशल जो नागरिक सभ्यता के लक्षण हैं, आर्यों की दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं थे। इसी कारण शिल्पकार त्रिवर्ण में नहीं गिने गये हैं। वैदिक और प्राग्वैदिक संस्कृतियों का समन्वय उन ऋषि मुनियों ने किया होगा, जिनमें से अनेक की धमनियों में व्यास के समान दोनों संस्कृतियों का रक्त बह रहा था। इसीलिए इस समन्वय में उन्हें अद्भुत सफलता मिली।

द्रविड़ दक्षिण भारत में थे और उनके तथा आर्यों के बीच समन्वय की प्रक्रिया वैदिक काल में ही आरम्भ हो गयी थी। दोनों को भिन्न मानना एकांगी दृष्टिकोण का परिचय देना है। द्रविड़ भाषाओं और संस्कृति को एक ही मूल का स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर यह बात सहज रूप में स्वीकार की जा सकती है कि संस्कृत साहित्य पर जितना ऋण उत्तर वालों का है, उतना ही दाक्षिणात्यों का

भी है । उत्तर-दक्षिण का प्रश्न आज का प्रश्न है अन्यथा प्राचीन काल में सारा भारत संस्कृत को ही अपनी साहित्य भाषा मानता था ।[४०] वस्तुत: यह प्रश्न पृथकतावादी दृष्टिकोण का परिचायक है नहीं तो समस्त भारत प्राचीन काल से अद्यतन एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में अपने अस्तित्व को बनाये हुए है ।

आर्य और द्रविड़ स्वभाव में आरम्भ में किंचित् भिन्नता अवश्य रही होगी । किन्तु कालान्तर में दोनों परस्पर घुल मिल गये और अब दोनों की स्वभावगत् पृथक् विशेषताएं बताना संभव नहीं है । वस्तुत: नदियों के समान ही प्राचीन संस्कृतियों का उद्गम निश्चयपूर्वक नहीं जाना जा सकता । विशेषत: हिन्दू संस्कृति तो महानद के समान है । जिसके भीतर अनेक नदियों का जल समाहित हुआ है । तभी वह इतना विस्तृत और अथाह दीखता है । फिर भी, इस महानद को विशेषरूप से पुष्ट बनाने वाली दो महाधाराएं अवश्य हैं । जिन्हें हम आर्य और द्रविड़ विशेषणों से जानते हैं ।[४१] भारतीय विचारधारा में पायी जाने वाली मुख्यत: अहिंसा, सहिष्णुता और वैराग्य की भावना तथा ज्ञान और भक्ति का विकास प्राग्वैदिक संस्कृति के प्रभाव से हुआ ।[४२]

वेदों में जो त्रिवर्ण की कल्पना ही मिलती है उसमें शुद्र का में उल्लेख नहीं है, जैसा बाद में हुआ । दिनकर जी की मान्यता है कि कर्म-सादृश्य या स्वभाव साम्य के आधार पर भी शुद्र क्षत्रिय वर्ण के रहे होंगे । वेदों के आरम्भिक युग में भी त्रिवर्ण की व्यवस्था बहुत कठोर नहीं थी । ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि सभी प्रकार की श्रेणियों से उठकर लोग ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते थे ।[४३] किन्तु राधाकमल मुखर्जी का मन्तव्य है कि समाज चार वर्णों में विभाजित था- ब्राह्मण अथवा पुजारी, राजन्य, क्षत्रिय या योद्धा, खेती और व्यापार करनेवाले

वैश्य तथा काली चमड़ी वाले स्थानीय निवासी शूद्र जो शिकार करते और मछली मारते थे एवं घरेलू दास थे। इन वर्णों ने जातियों का रूप धारण नहीं किया था तथा उच्च सामाजिक समुदायों में अक्सर व्यवसाय परिवर्तन अथवा परस्पर विवाह हुआ करते थे। सामाजिक स्तरों का विभाजन करने वाली चातुर्वर्ण्य प्रणाली वैदिक काल के अंतिम समय से आज तक भारतीय सभ्यता का अनिवार्य अंग है।[४४] डा० मुखर्जी के अनुसार समाज की चातुर्वर्ण्य प्रणाली भारतीय संस्कृति को वैदिक युग की देन है। यहां पर वर्ण का अर्थ शरीर का रंग नहीं, वरन् आध्यात्मिक गुण है। (वर्णीय का अर्थ है विशिष्ट) गोत्र व्यवस्था के अनुसार सजातीय और विजातीय विवाहों के नियमों ने वर्ण व्यवस्था के विकास में योग दिया।[४५]

जाति-प्रथा के सम्बंध में दिनकर का अपना अभिप्राय यह है कि आरम्भ में इसका रूप निन्दित नहीं था, जो आज है। वरन् यह प्रथा कुछ सीमा तक उपयोगी भी सिद्ध हुई थी। विजातियों एवं विजितों को अपनी जाति में सम्मिलित करने में इस प्रथा के कारण आर्यों को विशेष कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने जाति-प्रथा की विशाल दीर्घा के किसी न किसी सोपान पर उन्हें बिठाकर अपने समाज में मिला लिया।[४६] डा० वाचस्पति गैरोला ने यह प्रतिपादित किया है कि वैदिक युग में ब्राह्मण और क्षत्रिय को विशेष महत्त्व प्राप्त था, जो वैश्य और शूद्र को नहीं था। उन्हें अवर स्थान प्राप्त था। समस्त वैदिक युग में कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है कि कोई वैश्य राजा, क्षत्रिय या ब्राह्मण के पद तक पहुंचा हो, किन्तु व्यक्ति के मानसिक , वैचारिक, व्यावहारिक तथा व्यावसायिक उन्नति में यह वर्ण धर्म बाधक नहीं था। अपनी आत्मोन्नति का सबको समान अधिकार प्राप्त था।[४७]

अन्तर्जातीय विवाह-प्रथा आरंभिक स्थिति में निन्दनीय नहीं थी किन्तु

कालान्तर में इसे हेय मान लिया गया । अन्तर्जातीय विवाह के फलस्वरूप हिन्दू जाति में अनेक उपजातियां विकसित हुईं, जिनकी संख्या सैकड़ों तक पहुंच जाती है और धीरे-धीरे जाति- व्यवस्था में जटिलता भी आती गई । आर्यों को अपने रक्त की पवित्रता बनाये रखने का ध्यान अवश्य था, किन्तु रक्त की पवित्रता बची नहीं । अन्तर्जातीय विवाहों के द्वारा आर्य और आर्येतर रक्त का काफी मिश्रण हुआ और इसी सम्मिश्रण के परिणाम स्वरूप आर्यों और द्राविड़ों का वांशिक भेद निःशेष हो गया । नारियां सर्वत्र संस्कृति की पालिका समझी जाती हैं । भारत में उन्होंने सांस्कृतिक समन्वय को भी संभव बना दिया ।[४८] भारतीय संस्कृति की सदा ही यह विशेषता रही है कि उसके मार्ग में विरोधी-अविरोधी जो भी बाहरी तत्त्व आये उन सबको उसने अपने आंचल में समेट लिया । उसकी यही ग्रहण-शीलता इतनी विशाल एवं सहिष्णु है कि उसके प्रति द्वेष तथा संघर्ष से आई विधर्मी संस्कृतियां भी उसी में समा गयीं । इस संस्कृति ने समय-समय पर भारत में आयी शक, हूण, बर्बर, दरद, यवन और आंग्ल आदि अनेक जातियों के आचार-विचारों को सफलता पूर्वक पचा लिया ।[४९]

सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया में दिनकर जी के अनुसार सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि आर्य जिन बातों पर विशेष जोर देते रहे, वे बातें पोथियों और पंडितों तक ही सीमित रह बनी गयीं और विशाल जनता ने अधिकांश में उन बातों को अपना लिया जो बातें द्रविड़ समाज में प्रचलित थीं अथवा जो रिवाज अन्य आर्येतर जातियों के लोगों में चले आ रहे थे । हिन्दू संस्कृति के आधे से अधिक उपादान आर्येतर संस्कृतियों से आये हैं ।[५०] प्रमुखतः आर्य और द्रविड़ धीरे-धीरे एक होते गए और उनके रस्म-रिवाज, इतिहास-पुराण, साहित्य और संस्कृति सब कुछ एक हो गया। आर्य बहुत मात्रा में द्रविड़ बहुत मात्रा में आर्य हो गये और इन्हीं दोनों जातियों

ने मिलकर उस संस्कृति, जाति या समाज का निर्माण किया जिसे हम हिन्दू समाज कहते हैं ।[५१]

सांस्कृतिक समन्वय में भौगोलिक एकता का भाव भी विशेष रूप से उल्लेख्य है । पवित्र तीर्थ भारत के उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में रहे हैं तथा उत्तर को आर्यों का देश तथा दक्षिण को द्रविड़ों का देश मानने की प्रवृत्ति कभी भी नहीं रही है । इस प्रकार समस्त भारत ों सर्वदा एक माना जाता रहा है ।

आर्य और आर्येतर जातियों के सांस्कृतिक समन्वय में वैदिक रुद्र और पौराणिक शिव का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । इस समन्वय की परिचायक एवं वाहक शिव संस्कृति है । जिसका व्यापक-प्रचार-प्रसार उत्तर से दक्षिण तक रहा है । इस रूप में भारतीय संस्कृति के निर्माण तथा उत्तरोत्तर विकास में सुर- असुर, आर्य-आर्येत्तर दोनों की प्रतिद्वन्द्वी विचार-धाराओं ने एक समान योगदान किया । सुरों, देवताओं, असुरों, दानवों और दैत्यों ने शिव से ज्ञान प्राप्त किया ।[५२] दिनकर जी इन मान्यता से पूर्णतया सहमत हैं । उनके अनुसार शैव- धर्म प्राग्वैदिक अथवा द्रविड़ संस्कृति की देन है ।[५३] उक्त सांस्कृतिक समन्वय का एक सशक्त साक्ष्य वैष्णव-धर्म भी है, जिस पर यहां स्वतंत्र रूप से विचार किया जा रहा है ।

वैष्णव धर्म :

पौराणिक परंपरा के उपर्युक्त साक्ष्यों के माध्यम से लेखक ने भारतीय संस्कृति की सामासिकता का जो निदर्शन किया है, उसका विकसित रूप वैष्णव धर्म के उद्भव और विकास में दृष्टिगत कराया है । उनके अनुसार वैष्णव धर्म प्राग्वैदिक धार्मिक परम्पराओं तथा वेदोत्तर परंपराओं के योग से विकसित हुआ है और उस पर द्रविड़ तथा इतर परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है ।[५४] इस प्रभाव के स्पष्टीकरण में उन्होंने निम्नलिखित साक्ष्य प्रस्तुत किये हैं -

१- विष्णु का कृष्ण वर्ण का माना जाना तथा कृष्ण का गोप-रूप तथा कृष्ण के साथ राधा का होना । इसका अधिक व्यवस्थित विवेचन डा० राधाकमल मुखर्जी ने किया है ।[५५]

२- विष्णु का विकास इन्द्र के पश्चात होना और उनका एक नाम उपेन्द्र[५६] ।

३- राम-कथा का रावण की कथा से तथा किष्किन्धा के बानरों से सम्बंधित भाग और आर्येतर संस्कृति के द्योतक हैं । इसका स्पष्टीकरण करते हुए दिनकर जी लिखते हैं कि- 'हाल से यह अनुमान चलते लगा है कि हनूमान नाम एक द्रविड़ शब्द 'आणमन्दि' से निकला है जिसका अर्थ 'नर-कपि' होता है । यहां फिर यह बात उल्लेखनीय हो जाती है कि ऋग्वेद में भी 'वृषाकपि' का नाम आया है । वानरों और राक्षसों के विषय में भी अब यहअनुमान प्राय: ग्राह्य हो चला है कि ये लोग प्राचीन बिन्ध्य प्रदेश और दक्षिण भारतीय आर्येतर जातियों के सदस्य थे, या तो उनके मुख बानरों के समान थे। जिससे उनका नाम बानर पड़ गया अथवा उनकी ध्वजाओं पर बानर और भालुओं के निशान रहे होंगे ।[५७] लेखक का निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार तीन संस्कृतियों के समन्वय और तिरोधान को बाल्मीकि ने एक ही काव्य में दिखाया है ।[५८]

४- उपर्युक्त समन्वय का निर्वहन परवर्ती रामकाव्य में मिलना तथा रामकथा के माध्यम से शैव और वैष्णव मतों के विभेद को समाप्त करना ।[५६]

उपर्युक्त निष्कर्षों के प्रमाण रूप में उन्होंने आचार्य क्षितिमोहन सेन, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० कामिल बुल्के प्रभृति विद्वानों के विवेचनों से सहायता ली है । जिसके संकेत भी यथा-स्थान दिये हैं । इससे उनकी संतुलित शोधदृष्टि को लक्ष्य किया जा सकता है । प्रकरण का अन्त हिन्दू संस्कृति की समन्वयमुखी चेतना के

विश्लेषण से किया गया है जिसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है[६०]-

१- हिन्दू धर्म अनेक धार्मिक विश्वासों का समुदाय है, जिसमें समय-समय पर आने वाली अनेक जातियों का योगदान है ।

२- यह सामाजिक पक्ष उन अनेक जातियों के भारतीय समाज में घुल-मिल जाने से निर्मित हुआ है ।

३- हिन्दू धर्म तथा समाज ने उनकी अनेक धार्मिक मान्यताओं एवं सामाजिक परंपराओं को आत्मसात कर लिया । इसी का परिणाम बहुदेववाद है ।

४- कालान्तर में नीग्रो, औष्ट्रिक, द्रविड़, मंगोल, यूनानी, यूची, शक, आभीर, हूण, तुर्क आदि जातियों के लोग आये और हिन्दू संस्कृति और समाज में मिलकर निजी अस्तित्व समाप्त कर बिन्दु से सिन्धु बन गये ।[६१]

उपर्युक्त तथ्यों के निदर्शन के पश्चात दिनकर जी संस्कृति के प्रथम अध्याय का समाहार इस संस्कृति की विश्व जनीयता एवं उसकी अद्वितीय पाचन शक्ति के स्पष्टीकरण के साथ करते हैं । यह एक प्रकार से उनके द्वारा विवेचित तीनों प्रकरणों का निष्कर्ष या उपसंहार है । अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में सुप्रसिद्ध विचारक सी० ई० जोड का मत प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि -' मानव जाति को भारत वासियों ने जो सबसे बड़ी चीज वरदान के रूप में दी है, वह यह है कि भारतवासी हमेशा ही अनेक जातियों के लोगों और अनेक प्रकार के विचारों के बीच समन्वय करने को तैयार रहे हैं और सभी प्रकार की विविधताओं के बीच एकता कायम करने की उनकी लियाकत और ताकत लाजबाव रही है ।'[६२]

मूल्यांकन :

पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति के आरंभिक

समन्वय की प्रक्रिया के विषय में दिनकर जी दृष्टि शोध-पूर्ण रही है। स्थान-स्थान पर यह दृष्टिगत किया जा चुका है कि उन्होंने विद्वानों के तद्विषयक विवेचनों को किस प्रकार सूक्ष्म अध्ययन दृष्टि के साथ समेटने का कार्य किया है। इससे यह स्पष्ट है कि इस विषय पर व्यापक अध्ययन करने के पश्चात ही उन्होंने अपने मत प्रस्तुत किया है। आर्य और द्रविड़ों के समन्वय के हर सूक्ष्म उपादान को उन्होंने अपनी सूक्ष्म दर्शी दृष्टि से देखा-परखा है। तभी वह कुछ कहने में समर्थ रहे हैं। यद्यपि इस विषय पर अनेक विद्वान् अपने शोधपरक अध्ययन प्रस्तुत कर चुके हैं। पर दिनकर जी ने उसे व्यापक फलक पर प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास किया है। उन्होंने अपनी इस पुस्तक की भूमिका में विद्वत्योग्य विनम्रता के साथ यह लिखा है कि यह ग्रन्थ विद्वानों के उच्छिष्ट से चुनकर लिखा गया है।[६३] परन्तु उनका गुरु गम्भीर अध्ययन काफी गहरायी में उतर कर उनके कवि व्यक्तित्व से सामंजस्य स्थापित करता हुआ ऐतिहासिक तथ्यों के अन्वेषण को पुस्तकाकार रूप देने में समर्थ हुआ है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि दिनकर द्वारा निर्दिष्ट त्रिवर्ण व्यवस्था एतद्विषयक ऐतिहासिक विद्वानों के विवेचनों से भिन्न है।

आर्य-द्रविड़ समन्वय को उन्होंने तीन प्रकरणों के द्वारा समझाने का प्रयास किया है। तीनों प्रकरणों में उनका चिन्तन आर्य-द्रविड़ संस्कृतियों के मिलन को सम्यक् रीति से प्रकाश में लाता है। दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनकी व्याख्याएं इनके विभिन्न पक्षों के यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। तृतीयत: ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ ऐसे पक्ष उद्घाटित किये हैं, जिनमें उनके मौलिक चिन्तन व कल्पना शक्ति का आभास हमें मिल जाता है। भारतीय संस्कृति अपने आप में इतनी संस्कृतियों को संजोये हुए है कि आज यह बता पाना कठिन है कि हमारी मूल संस्कृति क्या थी। इसलिए दिनकर जी भी यही मानते हैं कि

भारतीय संस्कृति के चिरन्तन धारा के उद्गम का पता लगाना कठिन है, पर यह जानना उतना ही सहज एवं स्वाभाविक है कि इस धारा के गुणों से हमारा जीवन सम्पूर्ण रूप से आच्छादित है। पतित-पावनी गंगा जिस प्रकार अनेक नदी-नालों के जल को अपने में समाहित कर भारतीयों के लिए पवित्र है, उसी प्रकार हमारी संस्कृति भी अनेक संस्कृतियों के समन्वय के पश्चात् इतनी समृद्ध एवं पतितों की उद्धारक है। इसीलिए विश्व के समस्त सभ्य देशों की दृष्टि हमारी संस्कृति की गरिमा से परिचित होने के साथ-साथ इसके महत्त्व को भली-भाँति समझती है।

द्वितीय सोपान - वैचारिक क्रान्ति :

भारतीय संस्कृति की आरंभिक समन्वयमुखी चेतना को उद्घाटित करने के पश्चात् दिनकर जी ने उसके विकास के द्वितीय सोपान को दो ऐतिहासिक काल खण्डों के विवेचन व विश्लेषण के माध्यम से प्रस्तुत किया है । विकास के प्रथम पदन्यास में वैदिक रूढ़ियों में प्रतिक्रिया का होना है । वैचारिक क्रान्ति जो भगवान बुद्ध और महावीर के द्वारा प्रवर्तित हुई थी । एक महान उपलब्धि के रूप में प्रकाश में आती है जिसे दिनकर जी ने क्रान्ति की गंगा के नाम से अभिहित किया है । सांस्कृतिक चेतना की विकास-धारा का दूसरा सोपान है इस क्रान्ति की विकृति और उनसे उद्भूत अनेक अवांछनीय साधनात्मक प्रवृत्तियां, अत: डा० दिनकर जी के एतद्विषयक विवेचन के मूल्यांकन के लिए इन दोनों पर क्रमश: विचार कर लेना आवश्यक है ।

क्रान्ति की गंगा-(जैन और बौद्ध धर्म) :

क्रान्ति की गंगा के बीज का वपन उपनिषद् काल में हो चुका था, यद्यपि हमारी संस्कृति का जो रूप तीन हजार वर्ष पूर्व था, आज भी वह मूलत: वैसा ही है ।[६४] किन्तु संस्कृति में यदि सामाजिक जटिलताओं का जाल बिछ जाता है तो यह उस युग का दायित्व है कि वह संस्कृति की धारा को सतत प्रवाहशील बनाने के लिए इन जटिलताओं रूपी जाल को दूर करने का प्रयास करे । उनके अनुसार[६५] भारत के लिए यह कोई नवीन विषय नहीं है यहां सदियों से यही होता आया है, जब-जब सांस्कृतिक-धारा में अवरोध उत्पन्न हुआ, समाज के बीच से कुछ प्रबुद्ध व्यक्तियों ने अपनी प्रबुद्धता का परिचय देकर इसकी धारा को पुन: प्रवाहित कर शाश्वत बना दिया । भगवान बुद्ध और महावीर स्वामी ऐसे ही सांस्कृतिक युग-पुरुष के रूप में हमारे सामने आते हैं । इन्होंने वैदिक रूढ़ियों व याज्ञिक कर्मकाण्ड की लौह-श्रृंखला

से आबद्ध समकालीनसमाज में एक नयी क्रान्ति का संचार कर दिया । लगभग इसी समय वैदिक कर्मकाण्डों की रूढ़ि के विरुद्ध उपनिषदों ने भी आवाज उठायी, और डा० ~~बिनके के~~ दिनकर के अनुसार इनके द्वारा प्रचारित सन्यास और वैराग्य की भावना से नैराश्यवाद का आरम्भ हुआ । यह निराशावाद प्रचण्ड रूप से जैन और बौद्ध धर्मों में अभिव्यक्त हुआ ।[६६] एक तो उस समय जन-साधारण से दूर संस्कृत भाषा तथा दूसरे दर्शन की दुरुहता के कारण उपनिषदों का ज्ञान प्रबुद्ध जनता तक ही सीमित रह सका ।

बौद्ध और जैन धर्मों की सार्वजनीयता को प्रकाशित करते हुए वे लिखते हैं कि साधारण जनता के लिए जो सरल आचार व धर्म अपेक्षित था उसकी पूर्ति इन धर्मों ने की । जन-साधारण में इसकी लोकप्रियता का यही कारण था, यद्यपि दोनों धर्म अहिंसा पर बल देते हैं किन्तु अहिंसावाद की चरम परिणति जैन-धर्म में दृष्टिगोचर होती है । जहां शारीरिक अहिंसा के साथ बौद्धिक अहिंसा को भी स्वीकार किया गया है । बौद्धिक अहिंसा को जैन धर्म में अनेकान्तवाद माना जाता है, जिसमें अन्य मतों के प्रति सहिष्णुता का दृष्टिकोण समाहित है । दिनकर जी अहिंसा को प्राक्वैदिक परम्परा से मानते हैं और सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चरित्र के त्रिरत्नों को वैदिकों के ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्मयोग के परिवर्तित रूप में मानते हैं ।[६७] इस प्रकार वे जैन-चिन्तन को पूर्ववर्ती धारा से जोड़ते हैं ।

दिनकर जी भारतीय संस्कृति की चेतना-धारा रूप में बौद्ध धर्म की क्रान्ति को प्रमाणित करते हुए लिखते हैं[६८] कि ब्राह्मण धर्म का बाह्यत: विरोधी होते हुए भी ~~क~~ हिन्दू धर्म का एक अंग ही था और इस प्रकार वह वैदिक संस्कृति के

महान आदर्शों को उजागर करता है उनके अनुसार गौतम बुद्ध प्रचलित हिन्दू धर्म के भंजक नहीं, सुधारक थे तथा उनका धर्म वैदिक जन्मान्तर वाद और कर्मफल के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।[६९] दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि बुद्धदेवही ऐसे धार्मिक नेता हैं, जिन्होंने अत्यन्त प्राचीन काल में भी बुद्धिवाद पर मनुष्य की आस्था जमाने का प्रयास किया, मन को भ्रमित करने वाली दार्शनिक कल्पनाओं को निरर्थक ठहराया और ईश्वरहीन धर्म की स्थापना करके मनुष्य को यह सन्देश दिया कि-' जो बातें बुद्धि में नहीं आतीं उन्हें मानने से इन्कार करके भी हम धार्मिक बने रह सकते हैं। तीसरा तथ्य यह है कि बौद्ध धर्म की उक्त ईश्वरहीनता ने आगे चलकर बुद्ध जी को ईश्वर के रूप में स्वीकार कर लिया।[७०]

बौद्ध धर्म के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को प्रकाशित करने वाला चौथा तथ्य यह है कि उसकी निवृत्ति प्रधानता ने गृहस्थ जीवन को गर्हित माना जिसका कि कुत्सित प्रभाव समाज पर पड़ा। जन सामान्य का भिक्षु-भिक्षुणी के रूप में मठों विहारों में निवास उनके परवर्तीकालीन भ्रष्ट आचरणों का कारण बना। सिद्धों ने स्त्री- सहवास की महिमा का गान, हिन्दू मंदिरों में देवदासी की प्रथा आदि दुष्काण्ड इसी भिक्षुणी प्रथा की देन है। इसी को दिनकर जी ने क्रान्ति की गंगा में शैवाल नाम दिया है। जिसका सम्यक् अनुशीलन आगे किया जायेगा। इन सन्दर्भ में सांस्कृतिक समन्वय के पंचम विशेषणको प्रकाश में लाते हुए वे कहते हैं कि कालान्तर में हिन्दू धर्म ने अपने समन्वय की खरल में जैन व बौद्ध धर्मों की समस्त विशेषताओं को घोंटकर हिन्दू धर्म में सन्निविष्ट कर लिया और बुद्ध को दस अवतारों में से एक तथा पार्श्वनाथ को चौबीस अवतारों में से एक मानकर इन धर्मों को अपने भीतर समेट लिया।

मूल्यांकन :

जैन व बौद्ध धर्मों के सांस्कृतिक योगदान विषयक डा० दिनकर के उपरनिर्दिष्ट

अध्ययन बिन्दुओं के सन्दर्भ में यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती व परवर्ती विचारकों से उनका मत कहां तक साम्य रखता है और किस सीमा तक उनका विवेचन आलोच्य विषय को न्याय पावना दे पाया है। डा० हरिदत्त वेदालंकार के अनुसार- जैन व बौद्ध धर्मों का नाम, याज्ञिक कर्मकाण्ड की निरर्थकता, वेदों की प्रामाणिकता का तथा ब्राह्मणों की प्रभुता का विरोध और नैतिकता तथा तपस्या के महत्त्व का ही दूसरा नाम है।[७१] ईश्वर की सत्ता को न मानने के कारण वे इसे नास्तिक धर्म-आन्दोलन ~~के-नरर-अध्यात्म~~ कहते हैं।[७२] डा० वेदालंकार का यह विवेचन 'संस्कृति के चार अध्याय' के पश्चात् प्रकाश में आया है, अत: उनकी मान्यताओं पर दिनकर जी के प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है। दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह है कि दिनकर ने ब्राह्मणों का तीव्र विरोध किया है। उनका यह कहना कि ब्राह्मणों ~~कर~~ से अहिंसा धर्म का पालन नहीं हो सकता था, इसलिए सामान्य जनता को गौतम व महावीर के क्षत्रिय होने की बात रुचि ~~लम~~ कर लगी। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने कई तर्क दिए हैं जो अनुकूल और प्रतिकूल दोनों हैं। डा० आचार्य क्षितिमोहन का यह मत 'बौद्ध जातकों से यह प्रकट होता है कि क्षत्रिय बृहदारण्यक उपनिषद में पहले क्षत्रिय सृष्टि की ही बात पायी जाती है।[७३] उनके उपर्युक्त मत का समर्थन करता है। इसी शृंखला में दूसरा मत डा० राहुल सांकृत्यायन का है जो दीर्घनिकाय(१।३ अम्बट्ठ सुत) की इस बात से अपने मत की पुष्टि करते हैं -'जहां बुद्ध अम्बष्ट माणवक से कहते हैं- इस प्रकार अम्बष्ट। स्त्री की ओर से भी पुरुष की ओर से भी क्षत्रिय ही श्रेष्ठ है। ब्राह्मण हीन है।[७४] दिनकर का यह भी मत है कि ब्राह्मण-क्षत्रिय के संघर्ष की बात वैदिक काल में ही आरंभ हो चुकी थी। लेकिन उपनिषद् काल में क्षत्रिय अपनी महत्ता व श्रेष्ठता प्रतिपादित करने में सफल हो चुके थे।[७५] डा० भगवतशरण उपाध्याय यह मानते हैं कि -'ऋग्वैदिक काल के बाद जब उपनिषदों का समय आया, तब तक क्षत्रिय, ब्राह्मण संघर्ष उत्पन्न हो गया था। और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गए थे। जिसका उपभोग

ब्राह्मण वैदिक काल से किये आ रहे थे। ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठानादि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की, और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल-प्रसार लम्बा रहा। जो अन्तत: द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणों के राजनैतिक उत्कर्ष का कारण हुआ।[७६]

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि उपनिषदों, महावीर स्वामी तथा गौतम बुद्ध द्वारा प्रवर्तित पूर्वनिर्दिष्ट सांस्कृतिक चेतना का डा० रामधारी सिंह दिनकर ने प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है जो उनके तद्विषयक गंभीर अध्ययन का साक्ष्य उपस्थित करता है। इस सन्दर्भ में डा० वाचस्पति गैरोला का यह कथन उल्लेखनीय है-'आर्य और आर्येतर जातियों के समन्वित प्रयास से जिस उदात्त संस्कृति का निर्माण हुआ था, उसकी दृष्टि में किसी वर्ग या सम्प्रदाय का कोई भेद-भाव नहीं था। इन्हीं वैदिक आदर्शों पर समन्वय प्रधान बौद्ध संस्कृति की नींव पड़ी।[७७] अत: इसमें सन्देह नहीं कि डा० गैरोला का यह कथन श्री दिनकर के उपर्युक्त विवेचन का पूरक है।

डा० दिनकर के इस विषय के विवेचन की तीसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि वे पूर्व निर्दिष्ट कर्मकाण्ड के विरुद्ध किये गये संघर्ष के विषय में कहते हैं कि उक्त संघर्ष को बुद्ध और महावीर ने उदात्त रूप प्रदान किया, जिसके साथ ही वे इस तथ्य पर भी बल देते हैं कि इन जन-नायकों की अहिंसा सम्बंधी बातें गीता पर आधारित थीं। जहां श्रीकृष्ण ने अहिंसा से युक्त यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बताया है।[७८] अत: निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि डा० दिनकर का एतद्विषयक विवेचन जीवन के सभी पक्षों तथा सांस्कृतिक क्रान्ति की गंगा को उद्गम और विकास के विविध क्षेत्रों का एक सूक्ष्म, संतुलित एवं वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत

करता है । इसका गंभीर अध्ययन एवं सांस्कृतिक परंपरा के अनुसन्धान में ऐतिहासिक महत्त्व है । सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० आर० सी० मजूमदार ने इस वैचारिक क्रान्ति का शुभारम्भ छठी शताब्दी ई० पू० मानते हुए विचार, दर्शन और सांस्कृतिक चेतना के अभिनव पदन्यास का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे भी श्री दिनकर जी की उपर्युक्त मान्यता की समीचीनता प्रकाश में आती है ।[७६]

क्रान्ति की गंगा में शैवाल :

पूर्ववर्ती विवेचन के अन्तर्गत यह निर्दिष्ट किया जब जा चुका है कि महात्मा बुद्ध ने सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति की जो गंगा बहायी थी, उसमें कालान्तर में विकृतियों का समावेश हुआ । जिन्हें दिनकर ने शैवाल की संज्ञा दी है । जिस प्रकार जल में उत्पन्न होकर उसकी स्वच्छता व निर्मलता को दूषित कर देते हैं, उसी प्रकार महात्मा बुद्ध द्वारा प्रवाहित उक्त निर्मल गंगा को उनके परवर्ती समय के अनुयायियों ने शैवालाच्छादित एवं पंकिल कर दिया । दिनकर जी ने इसके लिए उत्तरदायी निम्न-लिखित कारण बताये हैं -

१- राज्याश्रय प्राप्त करके भिक्षुओं का आलसी होना तथा राजाओं की प्रशस्ति ।

२- नारी-प्रवेश के कारण धर्म-संघों में विलासिता का समावेश ।

३- जन साधारण के बीच गिरती हुई लोकप्रियता को बनाये रखने के लिए अनेक आडम्बरपूर्ण आकर्षक प्रयोग ।

महात्मा बुद्ध ने अपने आदेशों से समाज को जो एक नयी सांस्कृतिक चेतना से आप्लावित किया था, उपर्युक्त विकृतियों के समावेश से वह चेतना विकृत एवं कलुषित

हो गयी । इस तथ्य कक के विषय में हमारे आलोच्य कवि दिनकर के निजी दृष्टिकोण की संक्षिप्त चर्चा यहां आवश्यक है ।

यह तो सर्वविदित एवं ऐतिहासिक तथ्य है कि बौद्ध धर्म अपनी लोकप्रियता के कारण राज्याश्रय प्राप्त कर चुका था, परिग्रह एवं सांसारिक मोह का त्याग करके, सुस्थिर चित्त और मैत्री-भाव से परस्पर विरोधी, व्यक्तिगत तृष्णाओं की भूल-भुलैया में से निकल कर मानव जाति का सही मार्गदर्शन करने में जुटा हुआ श्रेष्ठ भिक्षु ही निर्वाण पद को प्राप्त हो सकता था ।[८०] बुद्ध जी के उक्त निर्देश के बावजूद भी राज्याश्रय के कारण ये श्रमण एक ओर समाज के प्रति दायित्वहीन बन गये थे, और दूसरी ओर क्रमश: आलसी तथा विलासी होते गये । अनायास सुख-साधन सम्पन्नता का अवश्यम्भावी परिणाम बौद्ध भिक्षुओं के चारित्रिक पतन के रूप में हुआ । फलत: इनकी लोकप्रियता कम होती गयी और धीरे-धीरे बौद्ध- धर्म हिन्दू धर्म के भीतर समाता चला गया । बौद्ध धर्म ज्यों-ज्यों हिन्दुत्व के निकट आता गया, त्यों-त्यों उसमें देवी-देवताओं की वृद्धि होने लगी । तारा,प्रज्ञा-पारमिता, अवलोकितेश्वर ये बौद्ध सम्प्रदाय के ही देवता हैं ।[८१] डा० धर्मानन्द कौसाम्बी ने लिखा है- 'राजाओं और बड़े आदमियों का मन जीतने के लिए मूल बौद्ध साहित्य में उन्होंने इतना अधिक परिवर्तन किया कि उसे बुद्ध का उपदेश कहना कहां तक उचित है । यह नहीं कहा जा सकता ।[८२] कालान्तर में मिथकों को बढाते जाने से और बुद्ध में देवत्व का अधिक से अधिक आरोपण करने से बौद्ध धर्म की अवगति हुई।[८३] दिनकर ने उपर्युक्त सभी कारणों को प्रकाशित करते हुए लिखा है कि सदैव सुख के ~~आश्रय से~~ अतिशय से सडान्ध पैदा होती है । यही बौद्ध धर्म के पतन से शिक्षा निकलती है ।[८४] बौद्ध-धर्म के पतन में सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण तथ्य संघों में भिक्षुणी-प्रथा का होना है । संघों को राज्याश्रय तो प्राप्त था ही, सुख-साधनों के साथ-साथ कामिनी का प्रवेश भिक्षुकों को अधोगति की ओर ले गया।

उनके वस्त्रों, रहन-सहन सभी में बहुत अधिक परिवर्तन आ गया था। भिक्षुओं के लिए निर्धारित चीथड़ों के स्थान पर कीमती केसरिया रंग में रंगे रेशमी वस्त्र, ऊनी व बढ़िया सूती वस्त्रों का उपयोग होने लगा था।[८५] इन सब भौतिक साधनों से परिपूर्ण बौद्ध भिक्षु अब छोटे-छोटे राजाओं की तरह रहने लगे थे। विलासिता इसमें आगे जाकर इतनी बढ़ गयी कि मद्य, मांस, मैथुन ये तीन वस्तुएं इस धर्म के आवश्यक अंग समझे जाने लगे। डा० नलिनाक्ष दत्त ने अनेक साहित्यिक प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि बौद्ध और जैन भिक्षुणियों में चारित्रिक भ्रष्टता बढ़ती जा रही थी और उसमें सुधार के कोई लक्षण नहीं दिखायी पड़ते थे।[८६] जो श्री दिनकर जी द्वारा प्रयुक्त शैवाल शब्द को सार्थकता प्रदान करते हैं। बौद्ध धर्म का हीनयान व महायान सम्प्रदायों में विभाजन ही यह सिद्ध करता है कि बुद्ध की मृत्यु के कुछ समय बाद ही वह अपने मूल रूप से कितना बदलने लगाथा।

उपरिनिर्दिष्ट विकृति को दिनकर जी ने बौद्ध धर्म की हीनयान सेलेकर सहजयान तक की विकास-यात्रा के माध्यम से व्याख्यायित किया है, जिसे यहां संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि धर्म को लोकाभिमुखी बनाने के उद्देश्य से महायान सम्प्रदाय का विकास हुआ। क्योंकि हीनयान में केवल सन्यासियों का मार्ग ही स्वीकृत था। महायान में गृहस्थों को भी महत्त्व मिला। दूसरी ओर महायान विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश ने आगे चलकर अवांछनीय तत्त्वों को समर्थन देने वाले वज्रयान जैसे सम्प्रदायों के विकास का पथ प्रशस्त किया। अपनी कवि-सुलभ शैली में दिनकर जी लिखते हैं -'महायान चिन्तन में करुणा और मैत्री का चरम उत्कर्ष दिखायी पड़ता है। किन्तु महायान एक साथ बौद्धमत का गौरव शिखर भी है। और उसका गर्त भी। शिखर इसलिए कि

UNIVERSITY LIBRARY UNIVERSITY OF BARODA.

विचारों की दिशा में इसने आकाश का स्पर्श किया, किन्तु आचार के क्षेत्र में वज्रयान ने जो दृष्टान्त उपस्थित किया, वह गर्व का ही पर्याय है।[८७] महायान सम्प्रदाय की अनेक छोटी-बड़ी शाखाएं प्रतिष्ठित होती जा रही थीं और दिनकर जी के अनुसार उसके एक निकाय ने भिक्षुओं के लिए नारी समागम को क्षम्य बताया था।[८८] यह नयी व्यवस्था ही महायान के भीतर से वज्रयान के फूट पड़ने का कारण बनी। आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक का बौद्ध धर्म वस्तुत: वज्रयान या भैरवी-धर्म का चक्र था। इस प्रकार इन पांच शताब्दियों में भारतीय जनता एक प्रकार से इनके चक्कर में पड़कर काम-व्यसनी, मद्यप और मूढ़ विश्वासी बन गयी।[८९] कालान्तर में वज्रयान से विकसित सहजयान ने मद्य, मांस और मैथुन को धार्मिक कृत्य का रूप दे दिया।

मूल्यांकन :

डा० रामधारी सिंह दिनकर के उपर्युक्त विवेचन का समर्थन अन्य अध्ययनों से भी हो जाता है जिसे हम संक्षेप में निर्दिष्ट कर चुके हैं। डा० रांगेय राघव ने मठों और विहारों के भिक्षु-समाज की आचार-भ्रष्टता, सिद्धि और चमत्कार द्वारा जनता को आकर्षित करने की प्रवृत्ति, मैथुन को खुला समर्थन, गुह्य समाज की अवांछनीय प्रवृत्तियों पर विस्तार से विचार करते हुए कहा है कि वज्रयान वासना, कामशास्त्र के विवरण-भरे तंत्रों, अभोज्य-भोजन आदि का अखण्ड ताण्डव बन गया।[९०] डा० भगवतशरण उपाध्याय ने बौद्ध धर्म के दोनों पक्षों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि- 'मानवता को हम बौद्ध धर्म से ग्रहण कर सकते हैं, परन्तु जीवन के प्रति इस बौद्ध प्रव्रज्या से उत्पन्न उदासीनता और पलायन की प्रवृत्ति हमें सर्वथा अग्राह्य है। कालान्तर में ये संघ जो व्यभिचार और षड्यन्त्र के केन्द्र बन गये। अपने प्राचीन-मानव धर्म के शत्रु उनकी यह ~~अनि~~ अनिष्ठा भी नि:सन्देह हमारे आदर की वस्तु नहीं हो सकती।[९१]

डा० नलिनाक्ष दत्त ने बौद्ध धर्म का जो ऐतिहासिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार प्रारम्भ में बौद्ध धर्म के संघों और विहारों को मौर्य,कनिष्क, कुषाण, पश्चिम के क्षत्रपों, सातवाहनों और इक्ष्वाकु आदि के राजाओं द्वारा समय-समय पर सब प्रकार कीसहायता मिलती रही और यही उसमें विलासिता के प्रवेश का कारण बनी ।[६२] ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में एक व्यवस्थित क्रान्ति के रूप में विकसित महायान आगे चलकर गुप्तकाल में तीन-चार सम्प्रदायों में उन्नयन का कारण बना ।[६३] फाह्यान के यात्रा-विवरण से प्राप्त सर्वेक्षण से उसके प्रभावी किन्तु पतनोन्मुखी रूप का पता चलता है और कालान्तर में ह्वेनसांग के विवरण बौद्ध बिहारों के विनष्टप्राय स्थिति तथा भिक्षुणियों की आचार-भ्रष्टता प्रकाशित करते हैं ।[६४]

अतः मूल्यांकन विषयक उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि डा०दिनकर जी का ~~एतबे-~~ एतद्विषयक विवेचन ऐतिहासिक समीचीनता को लिए हुए है । विशेष उल्लेखनीय यह है कि शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों को अपने कवि व्यक्तित्व की छाप लगाकर मनोज्ञ एवं तर्कपूर्ण शैली में उन्होंने प्रस्तुत किया है ।

भारतीय संस्कृति और इस्लाम :

पूर्ववर्ती काल की सांस्कृतिक चेतनाके सम्बन्ध में यह निर्दिष्ट किया जा चुका है भारतीय संस्कृति की कहानी अविच्छिन्नता, समन्वय और समृद्धि की कहानी है । भारतीय रंगमंच पर इस्लाम के पदार्पण से संघर्ष तथा तत्पश्चात् एक सीमा तक समन्वय की प्रक्रिया एक नये आयाम केसाथ आरम्भ हुई। यह प्रक्रिया प्रधानतया तीन क्षेत्रों में दिखायी पड़ती है -

१- धर्म व समाज के क्षेत्र में ।

२- ललित-कलाओं के क्षेत्र में ।

३- भाषा और साहित्य के क्षेत्र में ।

इन क्षेत्रों से सम्बंधित समन्वय की चेतना पर स्वतंत्र रूप से विचार कर लेना यहां आवश्यक है ।

धर्म और समाज क्षेत्रीय समन्वय :

पूर्ववर्ती अध्याय में यह दृष्टिगत किया जा चुका हैकि जैन और बौद्ध धर्मों के अभ्युदय और विकास के पश्चात् अनेक धार्मिक मत-मतान्तर प्रतिष्ठित हो चले थे। तदनन्तर राजनीतिक अस्थिरता व अशान्ति की परिस्थितियों के बीच इस्लाम का अभ्युदय हुआ। इसका स्वर प्रवृत्ति का था और जीवन के प्रति सर्वांगिणी, सप्राण व स्वस्थ दृष्टिकोण था । इसकी अपनी संस्कृति भी थी। जिसके साथ भारतीय संस्कृति का सामंजस्य कुछ कठिन ही था । भारतीय संस्कृति अब तक आयी हुई संस्कृतियों को आत्मसात कर एक समन्वयकारी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई, किन्तु इस्लामी

संस्कृति के साथ वह न्याय नहीं कर पायी। बिनके दिनकर ने इस्लामी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में प्राय: अपनी निजी मान्यता का परिचय दिया है, जिसे इस प्रकरण में प्रस्तुत किया जा रहा है ।

हिन्दू समाज में वेद-विरोधी आन्दोलन इस्लाम के उदय से कम से कम एक हजार वर्ष पहले ही छिड़ चुका था और बहुत से लोग वेद, ब्राह्मण, प्रतिमा और व्रत-अनुष्ठानों में अपना विश्वास खो चुके थे । धर्म परिवर्तन के अधिक शिकार ये ही लोग हुए । दिनकर जी का मत है कि इस्लाम ने ऐसे लोगों को अपने वृत्त में खींच लिया, जो अछूत होने के कारण अपमानित हो रहे थे ।[९५] और बलात् मुसलमान बनाये गये लोग इस कारण भी पूर्ववर्ती धर्म में न लौट सके, क्योंकि प्रारम्भ में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं थी ।

मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं के साथ जो दुर्व्यवहार किया, वह अत्यन्त कटु एवं निर्दय था । फलत: हिन्दू मुसलमानों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे और उन्हें म्लेच्छ अभिधान दे दिया। हिन्दुओं ने उन्हें अपनी संस्कृति में वही स्थान दिया, जो एक प्रकार से अछूतों को दिया जाता था । परिणाम स्वरूप हरिजनों ने मुसलमानों के प्रति सवर्णों जैसा दृष्टिकोण नहीं अपनाया।[९६] मुसलमानों ने हिन्दुओं के हृदय में साम्प्रदायिकता की आग पैदा कर दी। धार्मिक द्वेष भारत में न था, जो दिनकर जी के अनुसार वस्तुत: मुस्लिम साम्प्रदायिकता की देन है ।[९७] हिन्दू मुस्लिम संप्रदायों में सद्भावना उत्पन्न करने में सूफी सन्तों और कलन्दरों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिनकर जी ने उनके योगदान को स्वीकार करते हुए लिखा है कि सूफियों और कलन्दरों के प्रभाव से भारत में इस्लाम का रूप बदल गया । इस्लाम अपने मूल रूप में सीधा,सादा, किन्तु कट्टर धर्म था । हिन्दुत्व के समीप आने पर वह एक प्रकार

का जटिल भक्तिमार्ग बन गया। जिसमें योग, चमत्कार, अंध-विश्वास, भजन,कव्वाली, पीरों की पूजा और हिन्दुओं की अनेक बातें प्रवेश पा गयीं । यदि इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो यह विदित होता है कि इस्लाम में गुरु-परम्परा का जोर पहले उतना नहीं था, जितना भारत में आकर बढ़ा । जब सूफी धर्म अपनी बुलन्दी पर था, तब तक भक्ति का आन्दोलन दक्षिण से उत्तर में पहुंच चुका था । इन दोनों आन्दोलनों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच दूरी कम कर दी।[६८] इन दोनों के बीच साधुता का आदर्श प्रतिष्ठित हो गया ।

उपर्युक्त समन्वय को जिन मध्यकालीन मुस्लिम व्यक्तियों के उदाहरण के द्वारा भी दिनकर ने प्रकाशित करने का प्रयास किया है । जिन्होंने इस क्षेत्र में बहुमूल्य योग दिया है । वे हैं- अमीर खुसरो, कबीरदास और सम्राट अकबर । अमीर खुसरो ने भारत को अपनी पवित्र भूमि माना था और हिन्दुओं के प्रति अपनी निष्कलुष भावना व्यक्त की। सन्त कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों के बाह्य आडम्बर पर प्रहार करके, समन्वय की भूमिका प्रदान की तथा राज स्तर पर समन्वय का स्तुत्य प्रयास सम्राट अकबर द्वारा संपन्न हुआ। इन प्रयासों को दिनकर जी ने आधुनिक युग में महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित हिन्दू- मुस्लिम एकता के प्रयासों से जोड़ दिया है। दिनकर जी दोनों संप्रदायों के समन्वय के लिए वेदान्त का मार्ग निर्धारित करते हैं । उनके ही शब्दों में -'सच्चा वेदान्ती न हिन्दू होता है, न मुसलमान,न बौद्ध या क्रिस्तान, वह केवल अच्छा आदमी होता है ----वेदान्त धर्म का वह रूप है, जो मुसलमान को पहले से अच्छा मुसलमान और हिन्दू को पहले से अच्छा हिन्दू बना सकता है ।[६९]

इस युग की संस्कृति भक्ति आन्दोलन से प्रभावित है । दिनकर जी का विचार

है बीज रूप में भक्ति प्राग्वैदिक धारा है । आर्यों में प्रारम्भ से में कर्मकाण्ड प्रधान था, भक्ति गौण थी, किन्तु कालान्तर में भक्ति ही प्रधान व कर्मकाण्ड गौण हो गया। इस भक्ति आन्दोलन की सबसे उल्लेखनीय देन सामाजिक समानता की प्रतिष्ठा है। सबसे पहले भक्ति के क्षेत्र में कबीर ने वर्णाश्रम व्यवस्था की अवज्ञा की। रामानुज के समय तक तो इस व्यवस्था को पूर्ववत् स्वीकार किया गया था । इसीलिए कबीर से भक्ति के उत्तर युग का प्रवर्तन होता है । इसी युग में भक्ति पर इस्लाम का भी प्रभाव पड़ा । इससे पूर्व दक्षिण में आलवार सन्तों की परंपरा रही है । जिनमें से अधिकांश तथाकथित निम्न जाति के थे । इन्हीं से रामानुज ने प्रेरणा ग्रहण कर प्रपत्ति का मार्ग सबके लिएप्रशस्त करते हुए वर्णाश्रम व्यवस्था को भी स्वीकार किया और इस प्रकार मध्यम मार्ग अपनाया। कबीर ने जिस निर्गुण भक्ति का प्रवर्तन किया, उसकी धारा बहुत पतली थी। नानक, दादूदयाल,सुन्दरदास, मलूकदास जैसे गिने चुके सन्तों ने उस धारा को प्रवाहित किया। जबकि सगुण भक्ति की धारा बहुत ही विशाल थी । उसमें वल्लभाचार्य, सूरदास, तुलसीदास जैसे समर्थ भक्त रहे हैं । जिन पर इस्लाम का प्रभाव न था। तुलसीदास जी ने डंके की चोट पर सगुण भक्ति की स्थापना की और हिन्दुत्व को पूरी गरिमा केसाथ प्रतिष्ठित किया। उनका यह कार्य उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना रामकृष्ण परमहंस का उन्नीसवीं सदी में । [१००]

हिन्दुत्व और इस्लाम के लिएस्वामी रामानन्द ने निःसन्देह उदारतावादी दृष्टि का परिचय दिया है। उनके शिष्यों में स्त्री, हरिजन और मुसलमान तक थे । शायद उन्हीं से प्रेरणा ग्रहण कर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने रसखान को दी होगी। इसी प्रकार बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने मुसलमानों को शिष्य रूप में स्वीकार किया । आसाम में शंकरदेव ने महापुरुषीय संप्रदाय चलाया, जिसमें मुसलमान,शूद्र और आदिवासी दीक्षित हुए। [१०१] दिनकर जी मानते हैं कि यह सब इस्लाम के प्रभाव के कारण हुआ ।

दिनकर जी ने रहस्यवाद के माध्यम से उक्त सामाजिक एकता के सूत्र को पकड़ने का यत्न किया है । उनका विचार है कि सूफी मत का रहस्यवाद तथा कबीर आदि कवियों का रहस्यवाद तात्विक दृष्टि से एकदूसरेसे पृथक है । सूफी मत का रहस्यवाद आठवीं, नवीं शताब्दियों के सिद्धों की रहस्य भावना से प्रभावित है । इस रहस्यवाद का अंश वेदान्त से गृहीत है और विरह की बेचैनी सूफीवाद से आयी है ।[१०२]

मुस्लिम शासकों में अकबर अपनी उदारतावादी नीति के कारण प्रसिद्ध है और औरंगजेब अपनी कट्टरता के कारण । जिनकी नीतियों को दिनकर जी ने 'अमृत व हलाहल' की संज्ञा दी है । अकबर नेदोनों धर्मों को निकट लाने कीपूरी कोशिश की । किन्तु कुछ ऐसे कट्टर शासक थे, जिन्होंने इस कार्य को प्रोत्साहित न कर घोर विरोध किया । अकबर की इस परम्परा में दारा शिकोह व आधुनिक युग में गांधी जी आते हैं । जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न कर सामासिक संस्कृति की भित्ति को सुदृढ़ करने की चेष्टा की ।

सामासिक संस्कृति के कुछ और रूप हिन्दु मुस्लिम दोनों में दिखाई पड़ते हैं। मुसलमानों के आगमन के पूर्व भारत में एक प्रकार कीसांस्कृतिक एकता कायम थी। धर्म, रीति-रिवाज,भाषाएँ और संस्कृतियाँ तब भी अनेक थीं, किन्तु सब लोगों के हिन्दू होने के कारण ये विविधताएं एक ही भाषा की अनेक बोलियों के समान परस्पर गुंथी हुई थी। मुस्लिम धर्म के आगमन से भारत मेंसंस्कृति कीदो धाराएं बहनेलगीं। ये दोनों धाराएं समानान्तर रूप से चलती हैं । एकाध जगह वे परस्पर स्पर्श तो करती हैं किन्तु वे मिलकर एक नहीं हो पाती।[१०३] यह उल्लेखनीय है कि रीति-रिवाज, धार्मिक रूढ़ियाँ, सामाजिक परंपराओं आदि पर हिन्दुत्व का विशेष प्रभाव पड़ा

और मुसलमान मूल रूप में न रहकर कुछ परिवर्तित अवश्य हो गये थे। हिन्दुओं में भी अनेक रूपों में मुसलमानी प्रभाव पड़े। हिन्दू-मुसलमान कुछ और नजदीक उस समय आए, जब मुस्लिम राजसत्ता समाप्त हो गयी। यूरोप के आगमन के साथ ही हिन्दू और मुस्लिम दोनों की एक समान दयनीय स्थिति थी। इस समय यह देखा गया है कि आपस में ये लोग बहुत ही नजदीक आ गये थे। मुसलमानों की कट्टरता कम हो गयी थी और हिन्दुओं के हृदय का भी भय दूर होता गया।[१०४]

मूल्यांकन :

धर्म व समाज क्षेत्रीय समन्वय के विषय में दिनकर जी के पूर्व निर्दिष्ट विचारों के पक्ष व विपक्ष दोनों में अन्य विद्वानों के मत भी यहां द्रष्टव्य हैं। डॉ० भगवतशरण उपाध्याय यह मानते हैं कि मुसलमानों के भारत आने तक भारतीय समाज की धारणा शक्ति नितान्त कुंठित हो चुकी थी और संभवत: उसका सामंजस्य इन लोगों के साथ न बैठ सका।[१०५] वे आगे कहते हैं कि मुसलमानों ने इस समन्वय के लिए कोई प्रयास नहीं किया। बलपूर्वक वे भारतीयों को इस्लाम धर्म में दीक्षित करते रहे। इससे एक बड़ी दीवार खड़ी हो गयी। अत: इस दृष्टि से दिनकर का मत कुछ त्रुटिपूर्ण कहा जा सकता है। डॉ० उपाध्याय का यह मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं ने ब्राह्मण पृष्ठभूमि के अहंकार से उनसे कुछ सीखना न चाहा और विजेताओं की अपनी संस्कृति व फिलासफी थी, जिसने शान्ति का वातावरण स्थापित हो जाने पर कुछ अपना दिया, कुछ लिया, कबीर और नानक जन्मे। भारत में एक नयी तहजीब जन्मी। एक नया साहित्य बना, मगर हिन्दू-मुसलमानों के बीच की दूरी न मिट सकी। हिन्दू, हिन्दू बने रहे। मुसलमान, मुसलमान।[१०६] उनका यह मत दिनकर जी के मत के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि दिनकर जी यह मानते हैं कि

इस्लाम के क्षिप्र प्रसार का कारण उसका उदार आलिंगन तथा निम्न जातियों के प्रति ब्राह्मणों का अत्याचार ही था। डा० गुप्त ने बारनी व इब्नबतूता के मतों को प्रस्तुत करते हुए यह[१०६] निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि -'समस्त देश को इस्लाम में दीक्षित करने को चिन्तित बारनी को दिनकर जी द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मणों के अत्याचारों का इस्लाम के लिए सुपरिणाम देखकर प्रसन्नता तथा सन्तोष व्यक्त करना चाहिए था, न कि उन्हें बाधक मानकर अपने क्रोध का प्रथम तथा प्रधान लक्ष्य बनाना चाहिए था।' डॉ० हुमायूं कबीर का मत इस सन्दर्भ में दिनकर जी के पक्ष में है। वे कहते हैं कि भारत में राजनीतिक सत्ता के धरातल पर जो संघर्ष हुआ। उसमें तो मुसलमान जीत गये। किन्तु बौद्धिक और आध्यात्मिक साधना के धरातल पर विजय एक पक्ष की नहीं, बल्कि दोनों पक्षों की हुई।[१०७] इस सिलसिले में वे रामानन्द और कबीर, नानक और चैतन्य तथा मोइउद्दीन चिश्ती के नाम प्रस्तुत करते हैं। बंगाल में वैष्णव धर्म और महाराष्ट्र में भक्ति पंथ के विकास का श्रेय सीधे धार्मिक संस्कृतियों के इस सम्मिलन को दिया जा सकता है।

डॉ० गुप्त ने हिन्दू मुसलमानों के सांस्कृतिक समन्वय की विस्तृत विवेचना की है। उनका मत है भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृतियों ने प्रारम्भ में एक -दूसरे को प्रभावित किया। जिसके परिणाम स्वरूप उनके बीच धीरे-धीरे सामंजस्य तथा समन्वय की भावना का विकास हो चला। उनका आगे कथन है कि पारस्परिक सम्पर्क एवं तज्जन्य सहिष्णुता से दोनों ही समाजों के उदार व्यक्तियों के प्रभाव से पारस्परिक कटुता कम हुई।[१०८]

उपर्युक्त विद्वानों के मतों से यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों एक दूसरे के करीब तो आयीं, पर मिलकर एक नहीं हो सकीं। जिस प्रकार

दो जीवन्त धाराएँ एक दूसरे में विलीन तो नहीं हो सकतीं, किन्तु स्पर्श भी न करें यह संभव नहीं है। दिनकर जी भारतीय संस्कृति को सामासिक संस्कृति मानते हैं, यह हिन्दू- मुस्लिम संस्कृति के सन्दर्भ में उसी प्रकार उचित लगता है। जिस प्रकार सुख-दु:ख शब्दों का अस्तित्व। ये दोनों शब्द एक दूसरे के विपरीतार्थक तो हैं पर महत्त्व दोनों का है। इसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति के रीति-रिवाज, मान्यताएं व स्थापनाएं भी एक दूसरे को प्रभावित करती रहीं। इसका एक सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि हिन्दुओं के यहां प्रचलित सत्यनारायण की कथा आज भी मुसलमानों के यहां एक भिन्न रूप में कहीजाती है। जिसको मीलाद कहते हैं। इसमें वे लोग सत्य-नारायण की कथा की तरह कथा पढ़ते हैं और प्रसाद बांटते हैं। इसलिए हम यह कह सकते हैं कि मुस्लिम समाज में हिन्दू रीति-रिवाजों का निरन्तर प्रचलन यह सायास नहीं बल्कि परम्परानुगमिता कीस्वाभाविक चेतना है। पूर्ववर्ती विद्वान् इस सन्दर्भ में समन्वय के कई उदाहरण प्रस्तुत कर चुके हैं।

ललित कलाओं के क्षेत्र में समन्वय :

जॉन मार्शल ने कलाक्षेत्रीय इस समन्वय को विश्व इतिहास की एक सर्वाधिक और आश्चर्यजनक घटना माना है।[११०] तद्विषयक विवेचन में दिनकर जी ने वास्तु-चित्र तथा संगीत इन तीन ललित कलाओं की उपलब्धियों पर प्रधानतया विचार किया है। सर्वप्रथम हिन्दू और मुस्लिम वास्तु कलाओं के अन्तर को प्रकाशित करते हुए वे लिखते हैं कि हिन्दू वास्तु का प्रभाव आकार की विराटता के कारण पड़ता है, मुस्लिम वास्तु का नफ़ासत और बारीकी के कारण एक में शक्ति की शोभा है, दूसरे में सौन्दर्य का सम्मोहन। श्री दिनकर जी के अनुसार इस कलागत वैशिष्ट्य का दूसरा पक्ष यह है कि हिन्दू निर्माताओं में राग था, उद्वेग और उद्दामता थी तथा

उसकी उर्वरता का स्रोत कभी सूखता नहीं था । मुस्लिम निर्माताओं में रुचि थी, कला से आनन्द लेने के लिए उमंग थी और उद्दामता को वे नियन्त्रण में रख सकते थे। हिन्दू मंदिरों की दीवारों पर इतनी रचनाकारी कर देते थे कि सम्पूर्ण मन्दिर ही मूर्तिकला का उदाहरण बन जाता था । दीवारों को सजाने का चाव मुसलमानों में भी था, किन्तु इस चाव को उन्होंने ज्यामिति के अनुपात में लता और पुष्पों के अंकन से पूरा किया ।[१११]

डा० दिनकर के अनुसार चित्र-कला में मुगल-गरिमा जिस प्रकार बिखरी है उससे अधिक वह स्थापत्य में निखरी है, इसमें भी समन्वय का आरंभ सर्वप्रथम अकबर ने ही किया। उदाहरणार्थ फतेहपुर सीकरी के किले में जो विराटता है, वह हिन्दू वास्तु की स्वाभाविक विराटता का प्रभाव है ।[११२] अफगान बादशाहों के समय भवन-निर्माण में हिन्दू कारीगर ही विशेष रूप से रखे जाते थे और कभी-कभी मन्दिरों के पाये और बन्दनवार भी तोड़कर उनमें लगा दिए जाते थे । इसलिए इन (अफगान) निर्माणों का स्वरूप वर्णसंकर जैसा लगता है । भारतीय शिल्प के प्रसिद्ध विद्वान् मि० फरगुसन ने लिखा है कि अजमेर की जामा मस्जिद, आबू के जैन मन्दिर से प्रेरणा पाकर बनी है। धारानगरी की यज्ञशाला को मुसलमानों ने मस्जिद मेंपरिणत कर दिया। दिनकर जी के अनुसार कुतुब मीनार में २७ मंदिरों के खण्डित अंश लगाए गये थे, जिससे उसमें हिन्दू कला की छाप स्पष्ट दिखायीदेती है ।[११३]

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समन्वय :

भाषा और साहित्य के इस समन्वय को लेकर अनेक विद्वानों के विवेचन प्रस्तुत हुए हैं । दिनकर जी की एतद्विषयक उपलब्धियाँ सर्वप्रथम हमारा प्रतिपाद्य है। हिंदी काव्य में प्रेम पीड़ा की जो नयी भंगिमा कबीर, मीरा आदि में दिखाईदेती है, दिनकर

जी के अनुसार वह बहुत कुछ मुस्लिम प्रभाव की देन है । उन्होंने इन कवियों के कतिपय उदाहरण देकर उनके मत की पुष्टि भी की है ।[११४] आगे कहते हैं कि प्रेम की जो बेचैनी कबीरदास और मीरा में है, वही दर्द शुद्ध ऐहिक धरातल पर बोधा में भी बोलता है । घनानन्द में भी टीस जगाता है । हिन्दी में रोमानी आन्दोलन का आरंभ छायावाद से माना जाता है, किन्तु सच पूछा जाय तो रोमानी भावों का जागरण बोधा और घनानन्द में ही हो गया था ।[११५]

मृत्यु को काम्य मानने की प्रवृत्ति सूफी कवियों और कबीर में मिलती है जो आगे चलकर रवीन्द्र व महादेवीकी कविताओं में विद्यमान है । दिनकर जी इस सम्बंध में अपने निष्पक्ष विचार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि ईरानी प्रभाव के कारण ही निवृत्ति की भावना को प्रवेशमिला । जबकि निवृत्ति की यह भावना यहां पहले से हीविद्यमान थी, किन्तु कबीर ने ही आत्मा को परमात्मा से मिलाने केलिए मृत्यु की आवश्यकता पर बल दिया है । भारतीय काव्य में मधुर भाव की उपासना के पीछे सहजयान की साधना,भागवतपुराण की प्रेमाभक्ति और सूफियों की प्रेम-भावना है । सूफियों ने परमात्मा को प्रेयसी के रूप में देखा है। पर भारतीय कवियों ने प्राय: प्रियतम के रूप में देखा है । जिसका चरम विकास चैतन्य महाप्रभु की भावना में और रामाश्रयी शाखा के सखी सम्प्रदाय की माधुर्य उपासना में सहज रूप में देखा जास सकता है ।

समन्वयका एक सशक्त पक्ष भाषागत समन्वय तथा एक नयी भाषा के उद्भव और विकास का है । दिनकर जी के अनुसार- सिन्धी, कश्मीरी और पंजाबी पर फारसी का विशेष प्रभाव है । गुजराती, मराठी पर आंशिक, हिन्दी पर मध्यम

तथा बंगला भाषा पर अत्यल्प। सिन्धी, कश्मीरी और पंजाबी भाषाओं के व्याकरण भी कुछ सीमा तक प्रभावित हैं। दिनकर जी का अपना मत है कि भाषा वही~~सब~~ सक्षम और समर्थ है। जो लोक ग्राह्य होती है। तुलसी ने जिस भाषा का प्रयोग किया, वह जनता में प्रचलित थी। तत्कालीन काव्य शास्त्री भिखारीदास ने तुलसी और गंग को कवियों का अग्रणी कहा, क्योंकि उनके काव्य में अनेक भाषाओं के शव्द पाए जाते हैं।[११६]

भाषा व साहित्य के क्षेत्र में भी मुस्लिम प्रभाव पड़ा है। दिनकर जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि हिन्दी अपनी उदारता के कारण ही साहित्य में स्थान पा सकी, क्योंकि वह एक व्यापक दृष्टिकोण को लेकर चली थी, जबकि उर्दू भाषा संकीर्णता के पथ पर बढ़ने के कारण इस देश के साहित्य में मुख्य स्थान न पा सकी। यद्यपि इसके ही शब्दों का समावेश कर हिन्दी भाषा पुष्ट व बलवती हुई है। यही हमारी संस्कृति का भी दृष्टिकोण है।

समीक्षा :

दिनकर जी ललित कलाओं एवं भाषा-साहित्य क्षेत्रीय हिन्दू- मुस्लिम जो समन्वय प्रस्तुत किया है उसके पक्ष एवं विपक्ष में कुछ विद्वानों के मत उल्लेखनीय हैं। हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय में वास्तु स्थापत्य, मूर्ति व चित्रकला का बहुत हाथ रहा है। इस युग में हिन्दी के प्रथम कवि अमीर खुसरो द्वारा कुछ मिश्रित रागों का भी निर्माण हुआ।[११७] जिसका विवेचन डॉ० गुप्त ने अपनी पुस्तक में विस्तृत रूप से किया है। वास्तु और शिल्प के अनेक समन्वयात्मक उदाहरण इस युग में मिलते हैं। इस काल के शासकों ने कई अद्भुत इमारतें, मस्जिदें, मकबरे तथा इमामबाड़े बनाये हैं।

जिनकी उत्कृष्टता के सम्बंध में डॉ० भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है कि -'भारत के बाहर किसी भी देश में इतनी विशाल और सुन्दर मुस्लिम इमारतें इस युग में न बन सकीं, जितनी कि इस देश में ।'[११८] ईस्लाम के आगमन से दोनों के सामंजस्य के फलस्वरूप इस युग की निर्मित इमारतों में चाहे वे हिन्दुओं की हों अथवा मुस्लिम शासकों की, सभी में अलंकरण की प्रधानता के साथ-साथ उनकी शैलियाँ अन्योन्याश्रित थीं।[११६] यह उल्लेखनीय तथ्य है कि इस युग में भवनों के निर्माण में पत्थरों का जो सुन्दर अलंकरण हुआ था । वह हिन्दू-शिल्पियों का ही काम था और वे अपनी प्राचीन परंपरा को छोड़ नहीं सके। इसलिए यह स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता है कि वास्तु निर्माण मुसलमानों ने कराया परन्तु उसके निर्माता हिन्दू थे । इसलिए उपर्युक्त निर्माण कार्य में हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य की झलक स्वयमेव दृष्टिगोचर होती है। यह तथ्य सभी विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया है। तथा दिनकर जी के मत की भी पुष्टि हो जाती है। ताजमहल की दीवारों पर सूक्ष्म पच्चीकारी का काम मुस्लिम चित्रकला का एक सुन्दर साक्ष्य उपस्थित करता है ।

दिनकर जी हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की बात तो कहते रहे हैं कि पर कई ऐसे महत्त्वपूर्ण तथ्य उनकी दृष्टि से बच गये हैं जिनका उल्लेख कला क्षेत्रीय समन्वय पर उचित प्रकाश डाल सकता था। जैसे हिन्दू भवनों में ढलावदार छतें व गोल गुम्बद मुस्लिम वास्तु की देन है । भवनों के द्वारों पर मेहराब का प्रयोग भी मुस्लिम कला का ही प्रभाव है । कमल और घट, इन अभिप्रायों को हिन्दू युग के स्थापत्य में बराबर ग्रहण किया गया है पर हम देखते हैं कि मुसलमान बादशाहों के मकबरों में भी इनका बड़ी चतुराई से उपयोग किया गया है ।[१२०] उपर्युक्त तथ्यों के बावजूद एक तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण है जिसकी ओर दिनकर जी ध्यान नहीं दे पाये हैं वह है हिन्दू प्रतिभा की प्रधानता एवं प्रभाव । उपनिर्दिष्ट उदाहरण यह स्पष्ट करते हैं कि मुस्लिम स्थापत्य पर परंपरागत भारतीय कला चेतना अपने पूर्ण प्रभाव तथा महत्त्व के साथ विराजमान

रही। इस ऐतिहासिक तथ्य और उक्त कलात्मक समन्वय के अतिरिक्त इस युग में आगे चलकर ऐसे निर्माण भी हुए जिस पर हिन्दू कला-चेतना का प्रभाव कम दिखाई देत पड़ता है ।

चित्रकला के क्षेत्र में मध्यकालीन पराधीनता एवं पराभव के युग में कलाकृतियों का जो उपहार विशेषकर भारतीय चित्रकला से ने प्रस्तुत किया है वह उसके सौन्दर्य बोध तथा सांस्कृतिक जागरण का परिचायक है । भक्ति आन्दोलन से भी प्रेरणा पाकर इस काल की चित्रकला सामाजिक जीवन को अभिव्यक्ति दे सकी है जो मुगल शैली की अपेक्षा भारतीय जन-जीवन के अधिक निकट है। राजपूत शैली में नारी जीवन का जो चित्रण हुआ है, वह भारतीय आदर्शों के सर्वथा अनुकूल तथा पारिवारिक आदर्शों से युक्त है । राजपूत शैली मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की प्राय: प्रत्येक प्रवृत्ति को चित्रित करती है । उसमें कला और साहित्य बोध का अद्भुत संयोग प्रस्तुत है ।[१२१] चित्रकला के ये सभी पक्ष दिनकर जी उचित रूप में प्रस्तुत करने में असमर्थ रहे हैं ।

भाषा और साहित्य के क्षेत्र में समन्वय के विविध पक्षों का दिनकर जी ने जो विवेचन किया है निश्चय ही उनकीसांस्कृतिक एवं साहित्यिक सूझ-बूझ को प्रमाणित करता है। उन्होंने सूफी साधना और भक्ति आन्दोलन पर उसके प्रभाव को प्रकाशित करते हुए दोनोंसंस्कृतियों के पारस्परिक आदान-प्रदान को भी यथास्थान निर्दिष्ट किया है। मध्यकाल केहिन्दी साहित्य विवेचकों ने प्राय: इस पर विस्तार से विचार किया है और दिनकर जी की एतद् विषयक मान्यताओं का समर्थन उनमें एकआध अपवादों को छोड़कर प्राप्त किया जा सकता है ।

भारतीय संस्कृति और यूरोप :

यूरोप के निवासियों का सम्पर्क पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से प्रारंभ

हुआ। परन्तु एक लम्बे समय तक उनके संपर्क का कोई विशेष प्रभाव सांस्कृतिक आदान-प्रदान, जन-जीवन में पड़नेवाले परस्पर प्रभाव आदि के दृष्टिकोण से नहीं दिखायी पड़ा। केवल सामुद्रिक किनारों के अत्यन्त सीमित क्षेत्रों में ईसाई धर्म के प्रचार और राजनीतिक संघर्ष की घटनाएं इतिहास में मिलती हैं। सोलहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना से अंग्रेजों का व्यापार के लिए यहां आगमन हुआ और आगे चलकर फ्रान्स आदि देशों की प्रतिस्पर्धा में राजनीतिक संघर्ष भी हुए। इनके माध्यम से फ्रान्सिसियों और अंग्रेजों का यद्किंचित प्रभाव राजनीति के क्षेत्र में अवश्य देखा जा सकता है। वस्तुत: योरोपीय प्रभाव का आरम्भ १८ वीं शताब्दी से दिखायी पड़ता है। सर्वप्रथम १८३६ में अंग्रेजी भाषा को भारत में शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर लिया गया। जिसके कारण ईसाई धर्म के प्रचार में वृद्धि हुई। ईसाई पादरियों के लिए शिक्षा उनके धर्म-प्रचार-प्रसार का मुख्य माध्यम बन गयी। सभी संस्थानों में बाइबिल की शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी थी। ईसाई धर्म के इस प्रचार ने भारतीय समाज और संस्कृति को गंभीर रूप से प्रभावित किया। भारत में प्रचलित सामाजिक परंपराओं जड़ता, धर्म, कला, साहित्य, विचार-धारा, रहन-सहन, वस्त्र-भोजन आदि सभी पर पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा। शिक्षा के साथ-साथ यूरोपीय विचारधारा तथा साहित्य के संपर्क में भारतीय आये, इसके कारण जहां अपने देश की परंपरा के प्रति हीनता विकसित हुई, वहां यूरोपीय संपर्क से सांस्कृतिक आदान-प्रदान भी हुआ। फलत: शिक्षित भारतीय तेजी से पश्चिमी संस्कृति के समर्थक होने लगे। अंग्रेजों की प्रभुसत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात् सांस्कृतिक जागरण का प्रभाव ईसाई धर्म के प्रचार व शिक्षण के क्षेत्र में अंग्रेजी माध्यम के प्रयोग से आरम्भ हुआ। दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कुछ विचारकों की पीढ़ी भी यूरोपीय प्रभाव का प्रसार अप्रत्यक्ष रूप से करने लगी। योरोपियन संस्कृति का भारतीय जीवन में सन्निवेश राजनीतिक क्षेत्र में प्रधानतया हुआ। इसकी प्रतिक्रिया में हमारे देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण का ऐतिहासिक अभियान आरम्भ हुआ। इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण का

बहुत दूर-दूर तक हिन्दी साहित्य पर विशेषकर हिन्दी काव्य-धारा पर प्रभाव पड़ा । हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-धारा तथा उसकी सांस्कृतिक चेतना इस नये पुनरुत्थान से जीवन -रस ग्रहण करती हुई काव्य की विषय वस्तु कला के नये-नये आयामों को आगे बढ़ाती गयी। हमारे आलोच्य कवि दिनकर इसी सांस्कृतिक पुनर्जागरण की देन हैं। इस पुनर्जागरण पर भी उन्होंने संतुलित विचार रखे हैं ।

अत: उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में दिनकर के काव्य के सम्यक् सांस्कृतिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि उक्त सांस्कृतिक पुनर्जागरण पर विस्तार से विचार किया जाय और उसे केवल दिनकर की ही एतद्विषयक अवधारणा तक सीमित न रखा जाय, जो कि परवर्ती अध्याय का विषय है ।

<u>सन्दर्भ संकेत :</u>

१- डा० मंगलदेव शास्त्री, भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, पृ० ३ शीर्षक- संस्कृति शब्द का अर्थ ।

२- DR. P.K.Acharya. Elemmts of Hindu Culture and Sanskrit Civilization.Page-1

३- स्वामी करपात्री जी ने इनके लिए मलायनय और अतिशया धान में द्विविध संस्कार माने हैं। कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक , पृ० ५८

४- डा० मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ०३

५- देखिए, वही, पृ० १२-१४ तक ।

६- Edvin R.A.Seligman-Encyclopaedia of Social Sciences,Ed.1954 Vol.IV page 645.Heading Cluture

७- डा० मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० २२

८- द्रष्टव्य, वही, पृ० २४

९- वही, पृ० ३

१०- डा० वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ५९-६०

११- वही, पृ० ८२

१२- Elements of Hindu Culture and Sanskrit Civilization.Page-1-3

१३- डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी-अशोक के फूल, पृ०८१ शीर्षक-भारतीय संस्कृति ।

१४- डा० प्रसन्नकुमार आचार्य-भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पूर्वाभास, पृ०२

१५- हिन्दी साहित्य कोश, लेखक- सं० धीरेन्द्र वर्मा

१६- डा० वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ६०-६१

१७- दिनकर, रेती के फूल, पृ० १२१, शीर्षक-संस्कृति क्या है, तृतीय संस्करण१९७२।

१८- वही, पृ० १२५

१९- वही, पृष्ठ-वही ।

२०- वही, पृ० १२४

२१- DR.D.N.Roy. The Spirit of Indian Civilization.Ed.1936. Chapter-II page 26 to 28. Heading-Meaning of Civilization.

२२- डा० भगवतशरण उपाध्याय,सांस्कृतिक भारत,प्रथम संस्करण,अध्याय-१ पृष्ठ-६ शीर्षक -संस्कृति का स्वरूप ।

२३- दिनकर, रेती के फूल,पृ० १२६

२४- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,परिशिष्ट'क',पृ०६६८

२५- दिनकर,संस्कृति के चार अध्याय,प्रस्तावना, पृ० १२

२६- वही, पृ० २८ ।

२७- वही, पृ० ३२

२८- वही, पृष्ठ-वही ।

२९- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ३७

३०- गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० १०६

३१- संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ४३

३२- गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० ११२

३३- द्रष्टव्य-संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ४३

३४- पाश्चात्य विद्वानों के मतों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करने के पश्चात डा० मुकर्जी लिखते हैं - ,In either case whether they came from West to East or East to West. the few skulls examined at Mohenjo-daro can not_be identified as sumerian and Dravedian'
Dr.P.K.Mookerji-Hindu Civilization,Ed.1950 Chapter-II
Pre-Historic India,Page 28-29,Heading-Auth

३५- संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ४८

३६- वही, पृ० ५८

३७- डा० मंगलदेव शास्त्री- वैदिक संस्कृति के मूल तत्व, प्रथम भाग,पृ०२१

३८- संस्कृति के चार अध्याय,पृ०६१

३९- वही, पृ० ६३

४०- संस्कृति के चार अध्याय,वही-पृ० ६९

४१- वही, पृ० ७०

४२- वही, पृ० ७२

४३- वही, पृ० ७६
४४- डा० राधाकमल मुखर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृ० ४६
४५- वही, पृष्ठ-वही ।
४६- संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ८०-८१
४७- डा० वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० १६७
४८- संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ८२-८३
४९- गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० १२८-१२९
५०- संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ८६
५१- द्रष्टव्य, वही-पृ० ८८
५२- गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला, पृ० १३२
५३- संस्कृति के चार अध्याय,पृ०
५४- संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ९८
५५- डा० राधाकमल मुखर्जी,भारत की संस्कृति और कला, विस्तृत विवेचन के लिए देखिये- पृ० ११६
५६- संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ९७ से ९९
५७- वही- पृ० १०४
५८- वही, पृष्ठ-वही ।
५९- वही, पृ० १०६
६०- वही, पृ० १०६ से १०८
६१- वही, पृ० ११५
६२- वही, पृ० ११६
६३- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, भूमिका
६४- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ०११९
६५- वही, पृ० १२०-१२१

६६- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ० १२६

६७- वही,वही,पृ० १५६

६८- वही, पृष्ठ-१५६

६९- वही, पृष्ठ-वही ।

७०- वही, पृष्ठ-१७२

७१- डा० हरिदत्त वेदालंकार,भारत का सांस्कृतिक इतिहास,पृ०६५,शीर्षक-
जैन व बौद्ध धर्म ।

७२- वही, पृष्ठ-वही-वेद ,आत्मा और ईश्वर पर विश्वास न रखने के कारण
इसे नास्तिक धार्मिक आन्दोलन कहा जाता है ।

७३- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय,पृ०१४५

७४- वही, पृ० वही ।

७५- वही,पृ० १४६

७६- डा० भगवतशरण उपाध्याय,भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण,पृ० ११८
शीर्षक- भारतीय वर्ण व्यवस्था अथवा अभिशाप ।

७७- डा० वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला,पृ०२२२

७८- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ० १४२

७९- विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य- History and Culture of the Indian People,Vol.II,Chapter XIX,Page-360,Heading-Religion and Philosophy-General Introduction-by DR.R.C.Majumdar.

८०- डा० दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी-प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता,पृ०१३६

८१- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय,पृ०२१०

८२- डा० दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता,पृ०१४

८३- वही,द्रष्टव्य-पृ० वही ।

८४- दिनकर,संस्कृति के चार अध्याय,पृ० २३०

८५- डा० दामोदर धर्मानन्द कौसाम्बी,प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता,पृ०२२३

८६- History and Culture of the Indian People-Vol.III. The Classical Age, Chapter-XVIII,Page-397,Heading-Hitorical Survey, by-DR.Nalinaksha Dutt.

८७- दिनकर,संस्कृति के चार अध्याय,पृ०१६१

८८- दिनकर,संस्कृति के चार अध्याय,पृ०

८९- वही, द्रष्टव्य,पृष्ठ-

९०- डा० रांघेव राघव,प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास,पृ०४५६-४५८

९१- डा० भगवतशरण उपाध्याय-भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण-पृ०९६

९२- History and Culture of the Indian People,Vol.II,The Age of Imperial Unity,Chapter-XIV.Page-376 to 398,Heading-Buddhism.

९३- वही, Vol.III,The classical Age,Chapter-XVIII,Page-373 Heading-Hinyan.

९४- वही, पृ० ३१३ से ३१७ Heading-Historical Survey.

९५- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय,पृ०३२१

९६- वही, पृष्ठ-३३०

९७- वही, पृ० ३३१

९८- वही, पृ० ३३२

९९- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय-पृ०३४०

१००- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय-पृ०३८६

१०१- वही,पृष्ठ-वही।

१०२- वही, पृ० ३९०

१०३- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय-पृ०४७०

१०४- वही, पृ० ४८०

१०५- डा० भगवतशरण उपाध्याय-भारतीय संस्कृति का ऐतिहासिक विश्लेषण-पृ०८४

१०६- डा० भगवतशरण उपाध्याय-भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण-पृ०१३०

१०७- डा० मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति,
तृतीय अध्याय-शीर्षक-सांस्कृतिक परिस्थिति,पृ०१४६ ।

१०८- डा० हुमायूं कबीर-भारतीय परंपरा,तृतीय अध्याय,शीर्षक-हिन्दुस्तानी पद्धति,
पृ० ५५ ।

१०९- वही,पृ०१६४,शीर्षक-सांस्कृतिक समन्वय का विकास ।

११०- द्रष्टव्य- R.C.Majumdar Dr.H.C.Raichaudhry.An Advanced History of India,Part-II.Chapter-VII.Page-410,Heading-Art & Architecture.

१११- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय-पृ० ४३०,शीर्षक-विश्वकर्मा और जौहरी का
मिलन ।

११२- वही,पृ० ४२६,शीर्षक-स्थापत्य या वास्तु कला पर प्रभाव ।

११३- वही,पृष्ठ-वही ।

११४- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय,पृ० ४३५-४३६,शीर्षक-प्रेम पीड़ा की नयी भंगिमा

११५- वही, पृष्ठ-वही ।

११६- वही,पृ० ४४८-तुलसी गंग दोऊ भये, सुकविन को सरदार ।
जिनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार ।।

११७- डा० मदनगोपाल गुप्त, मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति,पृ०१६१
शीर्षक- ललित कला क्षेत्रीय प्रभाव ।

११८- डा० भगवतशरण उपाध्याय,सांस्कृतिक भारत,पृ०१८४,शीर्षक-कला

११६- द्रष्टव्य- R.C.Majumdar & Dr.H.C.Raichaudhry,An Advanced History of India,Chapter-VII.Part-II,Page-410,Heading-Art & Architecture.

१२०- डा० हुमायूँ कबीर- भारतीय परंपरा,पृ० ६६

१२१- डा० मदनगोपाल गुप्त, भारत की पांच कलाएं-पृष्ठ-६८ से १०१ तक ।